



गुरुनिष्ठा का स्वरूप

श्री सुपाश्वर् जिन वंदिए, सुख-सम्पत्ति नो हेतु ललना ।
 शान्त सुधा रस जल नीधि, भवसागर मा सेतु ललना ।
 शिव शंकर जगदीश्वर, चिदानन्द भगवान ललना ।
 जिन अरिहा तीर्थकर, ज्योतिस्वरूप असमान ललना ।
 आणानिदेसकरे गुरुणमुववायकाराए ।
 इंगियागार, सम्पणे, से ‘विणीए’ ति वुच्वई ।

उत्तरा-1/2

प्रार्थना में कवि ने भगवान सुपाश्वरनाथ को अनेक नामों से संबोधित किया है- शिवशंकर, जगदीश्वर, चिदानन्द, भगवान, जिन, अरिहन्त, तीर्थकर, ज्योतिस्वरूप, असमान आदि । किसी भी नाम से संबोधित करें, पर नाम की यथार्थता क्या है, हम उसमें पहुँचें । शिव कौन हैं, शंकर कौन हैं ? जिन तीन प्रमुख देवताओं ब्रह्मा, विष्णु, महेश के नाम लिये जाते हैं उनमें शिव का ही नाम है महेश और उसका अर्थ किया जाता है जो सृष्टि का विनाश करता है । पर यहाँ यह अर्थ अभीष्ट नहीं है । यहाँ शिव का अर्थ है- कल्याण-रूप शंकर अर्थात् “शमं करोति” जिसके वैर- कषाय शमित हो जाये वह शंकर है । कदाचित् यह अर्थ लिया जाये कि सृष्टि का विनाश करने वाला शंकर है तो उसे भी एक विवक्षा से संयोजित किया जा सकता है । आत्मा अजर, अमर, शाश्वत है । न उसका जन्म है, न मृत्यु । आत्मा द्रव्य रूप से अखंड शाश्वत है, न उसका जन्म है न मृत्यु । आत्मा द्रव्य रूप से अखंड एवं शाश्वत तत्व है, पर कषायों के वशीभूत होकर स्वयं में एक सृष्टि की रचना कर लेती है । क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, डाह, मद, मत्सर आदि आत्मा की ही सृष्टि है ।

अपनी इस सृष्टि में आत्मा वैसे ही उलझ जाती है जैसे मकड़ी जाले का निर्माण कर उसमें उलझ जाती है। आत्मा वैभाविक गुणों से जिस सृष्टि की रचना कर लेती है भगवान् सुपाश्वर्नाथ ने उस सृष्टि का विनाश कर लिया है, इसलिए वे शंकर हैं और उनको वंदन करने से उस सम्पूर्ण वैभाविक सृष्टि का नाश होता है। परन्तु वैसा वंदन करने के लिए विनय आवश्यक है। विनय नम्रता ही नहीं है बल्कि वह भक्ति और बहुमान का विशेष प्रवाह भी है। जब वह भाव प्रवाहित होगा तब कहीं जाकर सुपाश्वर्नाथ भगवान् को हम वंदन कर पायेंगे। ऐसे विनय का स्वरूप समझाते हुए कहा गया है कि आज्ञा निर्देशानुसार हो, गुरु के उपपात में रहे और ”इंगियागार संपण्णे“ अर्थात् इंगित और आकार से सम्पन्न हो।

पर विचार करें कि इंगित और आकार से सम्पन्न तो धूर्त भी होता है। उसकी भी कुछ आकार व चेष्टाएँ ऐसी होती हैं कि एक धूर्त के भाव दूसरा धूर्त जान लेता है, पर यहाँ उसे ग्रहीत नहीं किया गया है। यहाँ जिस प्रकार के ”इंगियागार संपण्णे“ की बात कही गई है वह अवस्था भीतर से प्रस्फुटित होती है। उस अवस्था की बात का कोई विस्तृत विवेचन पुस्तकों में नहीं मिल पायेगा, किताबों के ज्ञान से भी ऐसी अवस्था नहीं बन पायेगी। ऐसी अवस्था तो गुरु का सान्निध्य प्राप्त करने पर ही बनेगी। जब शिष्य गुरु के चरणों में आता है उस समय उसके भीतर अज्ञान अर्थात् ज्ञान का अभाव होता है, परन्तु जब वह गुरु के निर्देशानुसार चलने लगता है तब यह अभाव गुण बन जाता है। क्योंकि तब उसका मस्तिष्क एक साफ स्लेट की तरह होता है जिस पर नये सिरे से लिखा जा सकता है। वह स्वयं गीली मिट्टी के नर्म लोंदे के रूप में गुरु कुम्हार के हाथों में पहुँचता है। गुरु कुंभकार उसे चाक पर चढ़ा देता है, चाक घुमाया जाता है और यदि वह निर्देश के अनुसार धूमता चला जाता है तो वह घड़ा बन जाता है। जो लोंदा था वह घड़ा बन जाता है। फिर वह कुंभकार के उपपात समीप में रहता है तो सुरक्षित बना रहता है। उसी सुरक्षा के आधार पर उसे जिधर चाहें उधर नमाया जा सकता हैं और हम जानते हैं कि जो घड़ा नमता है उसी में पानी भर पाता है। जिधर इशारा करें उधर घड़ा नम जाता है। एक दिशा में ही नहीं, सभी दिशा में मात्र इशारा पाकर ढ़ल जाता है। ”इंगियागार संपण्णे“ बनने से पूर्व या स्रोत का प्रस्फुटन

करने से पूर्व, आज्ञा-निर्देशानुसार और गुरु के उपपात में रहते हुए अपनी प्रतिभा से उसे स्वयं को जगाने की क्षमता पैदा करनी होती है। कभी-कभी ऐसी क्षमता भय से भी आती है, पर वह कारगर नहीं होती। क्योंकि वह एक प्रकार का दबाव होता है। यदि भीतर ज्योति का प्रगटीकरण हुआ है तो वह स्वतः परिणमन मांगेगा। पर जो भय या लोक-लज्जा से आया है, वह समर्पित नहीं होगा।

एक सेठ था। उसके घर में एक कन्या थी। इतनी जिद्दी कि किसी की नहीं सुनती थी, हर एक से लड़ना, मारपीट कर लेना, ताने कसना उसकी आदत थी। सभी उससे परेशान थे। सेठ भी दुःखी था। कन्या बड़ी हो गई। शादी की बात चली पर कन्या के 'गुण' तो गाँव में फैले हुए थे। कोई पहुँचता, गाँव में पूछताछ करता और लोगों के उद्गार सुनता तो सेठ के घर गये बिना ही लौट जाता। आस-पास के इलाके में भी बात फैल गई थी कि कन्या ढीठ है। पास के गाँव के एक लड़के ने विचार किया कि उससे विवाह करूँ। उसने पिता के सामने बात रखी। उन्होंने कहा- “क्या करोगे, घर में रोज महाभारत मचेगी और जीना मुश्किल हो जायेगा। फिर विचार करोगे कि अब क्या करूँ? लड़के ने कहा- ”वह कन्या ऐसी है तो क्या मैं पुरुष होकर उसे सुधार नहीं सकता ? यदि नहीं तो फिर मैं पुरुष कैसा ?“ वह पहुँचा सेठ से बात करने। सेठ ने सोचा चलो कोई आया तो सही, पर मैं भी कह दूँ ताकि बाद में लड़की पर कोई मुसीबत न आये। सेठ ने बता दिया कि उसकी पुत्री कैसी प्रकृति की थी। लड़के ने कहा- ”आप उसका विचार मत करिये और इच्छा हो तो बात तय करिये।‘ बात तय हो गई, ठीक समय पर वर बारात लेकर आया, विवाह हुआ। विदाई होने लगी तो सेठ ने बहुत-सी धन-सम्पत्ति देने की कोशिश की, पर लड़के ने साफ मना कर दिया। कहा- यदि आप कुछ देना ही चाहते हैं तो आपके यहाँ के मिट्टी के बर्तन बहुत प्रसिद्ध हैं वे छकड़े में (बैलगाड़ी) भरकर दे दीजिये।“ सेठ ने सोचा- मांगा भी तो क्या मांगा-मिट्टी के बर्तन ! खैर, सेठ ने छकड़ा भरवा दिया। गाड़ी रवाना हुई और पीछे-पीछे एक गाड़ी में वर-वधू भी। राह में चलते हुए एक ऐसा इलाका आया कि मिट्टी के बर्तन खड़-खड़ बजने लगे। दूल्हे ने गाड़ीवान से कहा- उन आगे वालों से कह दो कि खड़-खड़ नहीं करे, जानते हो जो मेरी बात नहीं मानता उसके साथ कैसा

बर्ताव होता है ?” गाड़ीवान ने आवाज लगा दी, पर भला बर्तन मानते ? दो-चार कदम चले फिर वही आवाज आने लगी । दूल्हे ने कहा- “मैंने कहा” तुमने चेताया नहीं, मैं सोच रहा था चेत जायेंगे, पर उनकी ये मजाल, एक बार और चेता दो” । गाड़ीवान ने कहा- “हजूर वे सुनते ही नहीं” । दूल्हे ने कहा- “गाड़ी रोको” । वह नीचे उतरा और चिल्लाया- “बार-बार चेताया पर मानते ही नहीं” । यह कहकर उसने उठाया डंडा और धड़ाधड़ शुरू कर दी पिटाई । सारे बर्तन चूर-चूर हो गये । अब गाड़ी चली तो आवाज नहीं रही थी । दूल्हे ने कहा- “आखिर लातों के देव बातों से नहीं मानते” । घर पहुँचकर पत्नी से कहा- “मेरा स्वभाव कठोर है मुझसे बिना पूछे कोई काम नहीं करना, यदि मेहमान भी आये तो उन्हें जो परोसना है वह भी मेरे निर्देश के अनुसार ही ।” बेचारी घबरा गई थी, सोचा-जैसा कहें वैसा ही करना उचित है । उसने कह रखा था कि बायीं आँख का इशारा करूँ तो तेल परोसना, दायीं आँख का इशारा करूँ तो धी परोसना । एक बार कन्या के पिता ने सोचा देख तो आऊँ क्या हालचाल हैं । दूल्हे के ससुरजी भोजन करने बैठे, पत्नी को बायीं आँख का इशारा किया उसका कलेजा बैठ गया । पिता को खिचड़ी में तेल कैसे परोसूँ? उसने पति से मिन्नतें भी कीं, पर उसने तो बायीं आँख का ही इशारा किया और नहीं चाहते हुए भी तेल परोसना पड़ा । पिता ने देखा यहाँ तो इशारे से गति हो रही है और मेरे घर रहकर यह उट्टण्ड हो गई थी । यहाँ तो जीवन ही बदल गया ।

यह इंगित और आकार को भय से समझाईश का उदाहरण है । पर प्रभु जो कह रहे हैं वहाँ भय नहीं है । प्रभु तो कह रहे हैं- हमें ‘अभय’ बनना है । भीतर से प्रकटीकरण हो, प्रस्फुटन हो । एक दृष्टांत लें । एक बार बात ही बात में अरिष्टनेमि कुछ मुस्कुराए, तो सत्य भामा ने श्रीकृष्ण से कहा- ‘ये अब शादी के लिये तैयार हैं।’ कृष्ण ने राजमति से संबंध तय कर दिया । विवाह के लिए बारात रवाना हुई । इंद्र को भी आश्चर्य हुआ । उन्होंने ब्राह्मण रूप बनाया और कहा- यह समय विवाह का नहीं है और मुहूर्त भी नहीं है । विवाह कैसे कर रहे हो ?” कृष्ण ने कहा- “अरे ब्राह्मण देवता, तुम कहाँ से आ गये? तुम्हें पीले चावल किसने दिये थे ? जैसे तैसे तो इन्हें तैयार किया है और तुम काम बिगाड़ने आ गये ।” यह सुनकर शक्रेन्द्र चला गया और रथ आगे बढ़ा ।

आगे देखा बाड़े में अनेक पशु-पक्षियों को बंद किया हुआ था । वे करुण-क्रन्दन कर रहे थे । अरिष्टनेमि ने सारथी से पूछा- “ये पशु-पक्षी क्यों बंद किए गए हैं ।” सारथी ने बताया- “आपके विवाह में बहुत से मांसाहारी बाराती भी हैं । मांसाहारी बारातियों के आहार के लिए इन्हें बंद कर रखा है ।” अरिष्टनेमि गमगीन हो गए, चेहरे पर करुणा के भाव निझरित हुए । चेहरे के भाव पढ़कर सारथी रथ से नीचे उतरा, बाड़े खोल दिये । सभी पशु-पक्षी भागने लगे । अरिष्टनेमि कुमार ने राजकीय चिह्न को छोड़कर सारे आभूषण उतार दिये । अरबों-खरबों का माल, सोना, रत्न, हीरे, मुकुट के सिवाय सारे आभूषण सारथी को दे दिए । किसलिए दिए ? “इंगियागार संपण्णे” मुख से कहा नहीं कि बाड़ों को खोल दो । बड़ों के पास रहने वाला यदि इंगित और आकार को समझा नहीं तो उसने फिर क्या प्राप्त किया ? जमाली भगवान का शिष्य भी था और जंवाई भी । विहार की बात कही तो प्रभु ने आज्ञा नहीं दी, पर वह इंगित, चेष्टा को समझ नहीं पाया और विहार कर गया । परन्तु वह विहार घातक हुआ । वह प्रकाश के बजाय अंधकार की ओर बढ़ गया और प्रभु का निन्दक बन गया । ऐसा कर्मों का चक्कर कब कैसे आ जाता है । यह व्यक्ति समझ नहीं पाता, पर अपने आप में उन भावों को “आणानिदेसकरे गुरुणमुववायकारए” के अनुसार आत्मसात् कर ले तो फिर समझ लो कि भीतर ज्योति प्रकट हो गई । फिर सहसा कुछ बिगाड़ नहीं हो सकता ।

महाराष्ट्र के छत्रपति शिवाजी ने अपने समय में हैदराबाद के निजाम और औरंगजेब से बहुत बार युद्ध किये । उन्होंने अपना राज्य समर्थ गुरु रामदास को समर्पित कर दिया था एवं उनके आदेश से सेवक की तरह राज्य-संचालन करने लगे थे । एक बार उन्होंने युद्ध की तैयारी की और कूच करने ही वाले थे कि ठीक समय पर समर्थ गुरु रामदास का एक शिष्य पहुँचा और एक कपड़े की पोटली शिवाजी के हाथ में थमाते हुए कहा कि इसमें जो है वही गुरु का आदेश और सलाह है । शिष्य तो यह कहकर रवाना हो गया । छत्रपति शिवाजी विचार करने लगे, गुरु ने जो आदेश और सलाह दी है वह सर्वोपरि है । वे गुरु का आदेश टालते नहीं थे क्योंकि राज्य तो उनका ही था जबकि वे स्वयं तो सिर्फ सेवक थे । उन्होंने सोचा- शायद पोटली में लिखित सूत्र होगा । पोटली को खोला तो आश्चर्यचकित रह गये- ये कैसी सलाह और

कैसा आदेश है ! ये “घोड़े की लीद और पथर किस लिए !” विचार करने लगे- गुरु ने भेजा है तो यह निष्कारण नहीं है, जबर इसमें गुप्त संकेत है जिसे मेरी बुद्धि नहीं समझ पा रही है। वे अपनी माता के भी आज्ञाकारी पुत्र थे। सोचा- माँ के पास चलूँ, संभव है कुछ समाधान मिल जाये। माता जीजाबाई के पास गये, प्रणाम किया और अपनी समस्या बयान कर दी। माता ने कहा- बेटा तुम्हारा सौभाग्य है कि ठीक समय पर तुम्हें गुरु का आशीर्वाद मिला है। शिवाजी ने कहा- पर माँ मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि यह क्या है और पोटली सन्मुख रख दी। माता ने कहा- ये गुरु ने भेजा है तो अवश्य इसमें कोई गहरा सूत्र है, पर मैं भी समझ नहीं पा रही हूँ। चलो दादा कोंडदेव के पास चलें। दादा कोंडदेव ने सारी बात सुनी और गहरी मुद्रा में पहुँच गये। दो क्षण पश्चात् मुस्कान बिखरते हुए कहा- शिवा तुम्हारी फतह निश्चित है। गुरुदेव ने तुम्हें बहुत बड़ा आशीर्वाद और परामर्श उस फतह के लिए ही भेजा है और साथ में तुम्हारी परीक्षा भी ली है कि तुम उसमें उत्तीर्ण होते हो या नहीं। यदि आज्ञा ठुकराते और रहस्य को समझे बिना ही पोटली को फेंककर कूच कर गए होते तो तुम अनुत्तीर्ण हो जाते, लेकिन तुम गुरु की परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये। शिवा ! गुरु ने सलाह दी है और आदेश भी कि युद्ध के लिए जाना है। ‘घोड़े की लीद’ इस तथ्य को इंगित कर रही है कि घुड़सवार सेना अधिक हो, रथ-सेना, पैदल सेना भले कम हो, पर घुड़सवार सेना अधिक संख्या में होनी चाहिए और दूसरा है ‘पथर’ यह किले का प्रतीक है। पर्याप्त घुड़सवार सेना अधिक होगी तो किले को फतहकर अन्य नये-नये किलों का निर्माण करोगे। शिवाजी ने गुरु के निर्देशानुसार कूच किया और फतह हासिल की। जो ‘इंगियागार’ के सम्पन्न है वह प्रभु कहते हैं, विनयी है अर्थात् उसके भीतर विशेष प्रतिभा प्रवाहित होती है और उसके माध्यम से वह मोक्ष रूपी अगम देश की यात्रा निर्विघ्न सम्पन्न करता है और वहाँ पहुँचकर बन जाता है-

‘शिव शंकर, जगदीश्वर, चिंदानन्द भगवान ललना ।
जिन अरिहा तीर्थकरु, ज्योतिस्वरूप असमान ललना ॥

इंगित-आकार से सम्पन्न व्यक्ति जब गुरु के पास रहता है तो वह जान लेता है कि किस समय गुरु के नैत्र का किस प्रकार प्रस्फुटन होता है। हाथ उठता है अथवा हाथ की विशिष्ट मुद्रा का क्या अर्थ होता है। यह उनके

उपपात में रहकर ही समझा जा सकता है कि अमुक स्थिति में यह क्रिया होती है। इस प्रकार के अनुभव से उसके हृदय में निर्देश अवस्थित होते जाते हैं और वह पाप में प्रवृत्ति नहीं करता। दूसरा अर्थ है, गुरु का जिधर इशारा हो उधर ही गति होगी। पूज्य गुरुदेव नीतिश्लोक फरमाया करते हैं-

उदीरतोऽर्थः पशुनाऽपि गृहचते, हयाश्य नागाश्च वहन्ति चोदिताः ।

अनुकृतमप्यूहति पण्डितो जनः, पोडिडतज्ञान कला हि बुद्ध्यः ॥

हाथी-घोड़े भी अंकुश लगाने से सही गति करने लगते हैं। हिचकारी लगाने से भेड़ें भी अपनी राह पकड़ लेती हैं। पशु भी इशारों को समझते हैं। घुड़सवार का चाबुक उठते ही अपने पर पड़ने से पूर्व ही घोड़ा संभल जाता है। उत्तराध्ययन-सूत्र (4/8) में कहा है- “आसे जहा सिक्खिय वम्मधारी” तात्पर्य है कि जो जातिवान घोड़े शिक्षा से शिक्षित व अनुशासित है वह रणभूमि में स्वयं की ओर अपने स्वामी की रक्षा करने में सफल होते हैं। परन्तु जो शिक्षा प्राप्त नहीं हैं वे समर भूमि में सफल नहीं होते बल्कि स्वयं के जीवन को भी समाप्त कर लेते हैं।

एक ऐतिहासिक घटना है। महाराणा प्रताप के पास दो घोड़े लाये गये चेतक और केतक। वे कितने शिक्षित हैं यह जानने के लिए महाराणा ने परीक्षा ली। चारों ओर तलवारों, भालों और तोपों के घिराव में केतक ने ऐसी छलांग लगाई कि वह सभी को पार कर बाहर निकल गया। उस छलांग में इतना जोर लगाना पड़ा कि उसने अपने स्वामी को तो बचा लिया पर स्वयं का बलिदान कर दिया। जब व्यापारी ने बताया कि दोनों घोड़ों में ऐसा गुण है तब महाराणा ने चेतक की परीक्षा नहीं ली कि कहीं मुझे ऐसे घोड़े को खो देना न पड़े। चेतक ने जिंदगी भर महाराणा का साथ निभाया। अनेक युद्धों में उसने स्वामी की जान बचाई, अपनी स्वामी भक्ति एवं अपने कौशल के कारण वह आज भी अविस्मरणीय है। वह तो आज्ञा और निर्देश के अनुसार गति करता था।

शिष्य को जो उससे भी अधिक आज्ञापालन हेतु तत्पर होना चाहिये। गुरु के पास रहते हुए जिसने स्वछंदता का त्याग कर दिया है तथा जो निर्देशों को ध्यान में रखते हुए आज्ञा-पालन करता है वह “इंगियागार संपर्णे” बन

जाता है। यह सूत्र आज भी हमारे मार्गदर्शन हेतु सुरक्षित है। हम स्वाध्याय भी करते हैं, पर समझ लें कि प्रभु की देशना सिर्फ मनोरंजन के लिए नहीं है। मनोरंजन तो हम अनादिकाल से करते आये हैं, पर प्रभु की देशना तो आत्मरंजन के लिए है, उसे सुनकर ही तृप्त नहीं होना है उस पर आचरण भी करना है। अतः यह सुनना इस रूप में हो कि वह जीवन में ढल जाये, तभी यह सुनना सार्थक होगा। सुनकर बुद्धि में रिकॉर्ड कर लिया, फिर बटन चलाया और सुन लिया तो उससे क्या फायदा ? बुद्धि से उसे हृदय तक पहुँचाना है। यदि हृदय की शुद्धि हुई तो वहाँ परमात्मा का वास होगा। बुद्धि का उपयोग नहीं किया तो धन भी घातक हो सकता है। सम्पत्ति है तो उसका सदुपयोग करिये। बुद्धि तो सम्पत्ति है। उसमें एकत्र कर लिया पर हृदय खाली रहा तो वैसी भी अवस्था बनेगी जैसी भिक्षु के पात्र की होती है। 2-4 घंटे भले ही उसमें कुछ पड़ जाये पर अन्ततोगत्वा खाली का खाली। हृदय में जिनवाणी का झरना निर्झरित होगा तो विनय के “इंगियागार संपण्णे” के स्रोत स्वतः ही प्रकट होंगे और वे जीवन को शिव अर्थात् कल्याण रूप शंकर के रूप में परिवर्तित कर देंगे। तब वैर-विरोध का शमन हो जाएगा और जगदीश अर्थात् जगत् के ईश, तीन लोकों के स्वामी बन जायेंगे। चिदानन्द चित्त में आनंद का अमृतकलश छलकेगा। भगवान के छः ऐश्वर्य प्रकट होंगे, जिनसे इन्द्रियाँ शिथिल हो जायेंगी। कुछ भी परोक्ष नहीं रहेगा। हस्तामलकवत् सबकुछ प्रत्यक्ष हो जायेगा। ढंडनमुनि ने लडू चूरते-चूरते कर्मों को भी चूर दिया। आप भी तो फुलका चूरते होंगे। बहनें भी बाटी चूरकर चूरमा बनाती हैं। आपने भी चूरते-चूरते कभी ढंडनमुनि जैसा रयासन पाया या नहीं। उन्होंने कर्मों को चूरा और अपने भीतर ज्योति प्रकट कर ली और फिर उन्हें अरिहन्त अवस्था उपलब्ध हो गई। हम भी ज्योति-स्वरूप बन सकते हैं, पर उसके लिए बाहर नहीं भीतर ही ज्योति का प्रकटीकरण करना होगा। परन्तु यह कार्य इतना सरल नहीं है। गुरु के प्रति असीम भक्ति, श्रद्धा और विश्वास रखना होगा तथा “इंगियागार सम्पण्णे” बनना होगा। हम सभी अपनी आत्मा को प्रक्षालित कर पवित्र करें और गुरुचरणों में समर्पित हों। जीवन के उद्धार का इससे सरल अन्य कोई उपाय नहीं है।



अंधकार से प्रकाश की ओर बढ़ें

श्री सुपार्श्व जिन वंदिए, सुख सम्पत्ति नो हेतु ललना ।
शान्त सुधा रस जल निधि, भव सागर मा सेतु ललना ।

चार दिशाओं में गमन करने वाला व्यक्ति जब पूर्व दिशा की ओर बढ़ रहा होता है तब निश्चित है कि वह किसी दूसरी दिशा से उस दिशा में बढ़ रहा होता है। जहाँ से वह चला होता है वह भी एक दृष्टि से पूर्व दिशा हो सकती है, पर यह विवक्षा होगी। प्रकट रूप से तो वह पश्चिम से ही पूर्व दिशा में बढ़ता है। इसे एक रूपक मानकर इसके निहितार्थ पर विचार करें। क्योंकि पूर्व दिशा सूर्योदय की ओर इस कारण प्रकाश की दिशा होती है। परन्तु यह बढ़ना चार प्रकार का हो सकता है- (1) अंधकार से प्रकाश की ओर (2) प्रकाश से अंधकार की ओर (3) प्रकाश से प्रकाश की ओर (4) अंधकार से अंधकार की ओर।

हम तनिक विचार करें- मनुष्य अंधकार चाहता है या प्रकाश ? पूछने पर यही उत्तर होगा कि प्रकाश चाहता है, अंधकार नहीं। पर यथार्थ इससे भिन्न है। यथार्थ में व्यक्ति प्रकाश चाहता नहीं है क्योंकि वह अंधकार में रमा हुआ है और अनादिकाल से वह उसका आदी हो चुका है। उसका पुनरपि-पुनरपि सेवन किया है, परिणामस्वरूप अध्यवसायों में वह विषय इतना गहरा उतर गया है कि वह उससे अलग कुछ देख नहीं पाता। कभी देख भी ले तो उसे विश्वास नहीं होता।

कल्पना करें, एक तालाब है जिस पर शैवाल आ गई है। ऊपर आकाश में सूर्य अथवा चन्द्र प्रकाशित है, तारे टिमटिमा रहे हैं। शैवाल

के नीचे रहने वाला प्राणी ऊपर की रचना देख नहीं पाता। कदाचित् हवा के झौंके से शैवाल हट गया और उसे ऊपर का दृश्य दिख गया तो रात्रि में चन्द्रमा को देखकर उसे आश्चर्य होगा कि मैं क्या देख रहा हूँ? वह डुबकी लगाकर अपने परिजनों को भी यह अद्भुत दृश्य दिखाने का विचार करता है। वह पहुँचा परिजनों के पास और कहा- मैंने अनुपम प्रकाश आलोक देखा है, चलिये आपको भी दिखा दूँ। पर किसी को विश्वास नहीं हुआ। इतने वर्षों में हमने कभी ऐसी चीज नहीं देखी है। वह पुनः ऊपर आता है पर इतनी देर में शैवाल पुनः छा जाती है और वह ऊपरी रचना न स्वयं देख पाता है, न दिखा पाता है। हमें भी ऊपर से प्रकाश की चाह जखर है पर हम वैभाविक शैवाल से उतने ढँके हैं कि ज्ञान के प्रकाश की बात हमारी कल्पना में भी नहीं आ पाती। धर्मकथाओं में एक आख्यान आता है औपचारिक रूप में कि एक बार नारदजी ब्रह्माजी के पास पहुँचे और कहने लगे- “आप अपने बैकुंठ में जो ‘आनन्दधाम’ है, उसमें संसार के प्राणियों को आने क्यों नहीं देते? आप तो उदार है, सृष्टि के रचयिता हैं, तो बैकुंठ का द्वार खुला क्यों नहीं रखते?” ब्रह्माजी मंद-मंद मुस्कुराये और बोले- “आप जो कह रहे हैं उसकी सच्चाई की परीक्षा कर लीजिये। मैंने तो द्वार बंद नहीं किए हैं, पर कोई आना ही नहीं चाहे तो मैं कैसे लाऊँ?” नारदजी ने कहा- ऐसी बात कैसे हो सकती है कि कोई आना नहीं चाहेगा? ऐसा कौन है जो ‘आनन्दधाम’ की इच्छा नहीं करे? ब्रह्माजी ने कहा- अच्छा ठीक है, जो भी आना चाहे आप उसे ले आईये। नारदजी को अधिकार मिल गया, सोचने लगे कतार लगा दूंगा लोगों की और भागे-भागे पहुँचे मृत्युलोक में। जब कोई खेल-तमाशा होता है तब जैसे सभी लोग उसी दिशा में जाने लगते हैं, मैं भी वैसी ही लाईन लगा दूंगा। फिर ब्रह्माजी को भी कहना पड़ेगा- अब विराम लो। नारदजी भूलोक पर आये और उन्होंने घर-घर घूमना शुरू कर दिया। कई घरों में तो किसी ने नारदजी की ओर ध्यान भी नहीं दिया। किसी परिवार में रुझान ही नहीं था।

इसी प्रकार घूमते-घूमते संयोग से वे एक मकान में पहुँचे, जहाँ एक टूटी खाट पर एक वृद्ध पुरुष बैठा था और पास में बच्चे खेल रहे थे। कोई उस वृद्ध पुरुष को डंडे की लगाता और कोई उसकी दाढ़ी खिंचता। वृद्ध बच्चों को डांटता फटकारता पर वे मानते ही नहीं थे। नारदजी ने देखा कि वह वृद्ध दुःखी था। समझ गये कि इससे कहूँगा तो जल्दी तैयार हो जायेगा। उन्होंने उससे अपनी बात कही। वृद्ध ने कहा- “आपकी कृपा है, आप ले जाना चाहते हैं और मैं भी जाना चाहता हूँ, पर बात यह है कि मेरे चार पुत्रों में से मैंने तीन का विवाह कर दिया है और एक अभी कुँवारा है, उसका विवाह किए बिना जाऊँ, तो अच्छा भी नहीं लगेगा। मैं उसके भी हाथ पीले कर दूँ फिर चलुगां।” नारदजी ने सोचा कोई बात नहीं कम से कम तैयार तो हुआ। अब दूसरे को पकड़ने से पूर्व इसका काम हो जाए फिर इसे ही ले चलूँ। छोटे पुत्र का विवाह हुआ और नारदजी हाजिर हो गए। वृद्ध ने कहा- आप आए तो हैं पर अभी तो शादी हुई है, बहू आई है, नेग-दस्तूर अभी बाकी है, वे तो पूरे कर लूँ। नारदजी ने कहा- कोई बात नहीं। नेग-दस्तूर भी हो गए। नारद बाबा फिर आ गए। “अरे बाबाजी आपको जल्दी लगी है तो मुझे भी जल्दी कम नहीं है। मेरे तीनों पुत्रों के बच्चों के तो मैंने जन्मोत्सव मना लिये, प्रभावना बाँटना, जाति-भोज जो कुछ करना था कर लिया, अब चौथी बहू आ ही गई है तो पोता तो होना ही है। पोते का जन्मोत्सव भी मना लूँ”। नारदजी ने कहा- “ठीक है मैं प्रतीक्षा करूँगा”। पोते का जन्म हुआ और नारदजी आये तो मालूम पड़ा कि पोते के आने के पूर्व ही वे तो रवाना हो चुके थे। नारदजी ने अपने दिव्य ज्ञान का उपयोग किया और पता लगाया कि इस समय वे कहाँ थे ? उन्होंने जान लिया कि वे अपने ही घर में कुतिया के रूप में जन्मे थे। नारदजी ने पुकारा- अरे भाई! मैंने कहा था अब तो जाग जाओ उठ जाग रे चेतन ! निन्दिया उड़ा ले मोह-राग की।

उसने पूछा- “तुम क्या कहना चाहते हो।” “अरे ! मैं तुम्हें वैकुंठ

मैं ले जाना चाहता हूँ, अब भी चलो”। उसने कहा- “बाबाजी, तुमने भी खूब याद दिलाई, अरे मैं भी जाना चाहता हूँ, पर विचार तो कीजिए लड़कों ने बड़ी-बड़ी फैकिट्रियाँ खोल ली हैं। नौ बजते ही घर से निकल जाते हैं, उनकी मिसेज भी घर पर नहीं रहती है, उन्हें भी ऑफिस जाना होता है, बच्चे स्कूल-कॉलेजों में पढ़ने जाते हैं, घर मैं कोई नहीं रहता तो मेरी जवाबदारी है कि मैं रखवाली करूँ। जब मेरा बेटा रिटायर होकर घर में रहेगा तब मैं जरूर चलूँगा। बेटा रिटायर भी हो जायेगा। बाबाजी ने कहा- तैयारी तो है। पर जब रिटायर होने की खबर लगी और नारदजी आये तो उसने कहा- कुछ दिन बाद ही घर में एक बच्चे का बर्थ-डे मनाया जायेगा सभी भोजन करेंगे तो बच्ची-खुची मिठाई का जूठन तो मुझे भी नसीब होगा। बर्थ-डे भी आ गया। नारदजी आये तो मालूम हुआ कुतिया की उस बर्थ-डे के पहले ही डेथ हो गई। बाबाजी ने सोचा- अब कहाँ मिलेगा ? देखा वह गटर में कीड़े की पर्याय में रह रहा था। बाबाजी ने कहा- “भाई अब तो बोध प्राप्त करो, तैयारी हो तो मैं ले चलूँ”। उसने कहा- बाबाजी एक बात बता दो वहाँ ऐसा गटर या नाला मिलेगा या नहीं? नारदजी ने कहा- अरे भाई ! क्या बात करते हो, वहाँ तो दिव्य अवस्थान है। होगा, मैंने तो देखा नहीं, यदि वहाँ गटर नहीं है तो मैं तो यहीं आनंद में हूँ, मुझे नहीं जाना- उसने कह दिया।

उसके व्यवहार पर यदि हमें विचार आएगा तो हम हँसेंगे, फब्बियाँ भी कस देंगे कि कैसा मूर्ख था ? पर अपना घर तो टटोलें। क्या हमारे साथ यह घटित नहीं हो रहा है? व्यक्ति चाहता तो है कि किचड़ से निकलूँ पर कीचड़ में ही ढूबता चला जाता है। अनेक आख्यान हैं- आप सुनते रहते हैं। शहद-बिन्दु का भी दृष्टांत है। व्यक्ति वृक्ष की शाखा पर झूल रहा है, वृक्ष की जड़ों को हाथी उखाड़ रहा है। नीचे कूप में अजगर मुँह फाड़े बैठा है। विद्याधर ने कहा- “आओ मेरे विमान में, सुरक्षित स्थान पर पहुँचा दूँगा।” जिस शाखा पर लटक रहा है, चूहे उसे भी कुतर रहे हैं तो भी वह कहता है- “देखो वह शहद-बिन्दु तैयार हो गई है, बस

टपकने ही वाली है, उसका जायका तो ले लूँ।” एक बूँद और एक बूँद और वह लोभ में फंसता ही जाता है। विषय-वासना की, मोह-राग की बूँदे आत्मा ने कितनी बार चख ली, पर और अधिक की तृष्णा खत्म नहीं होती। इसीलिए कहा जाता है कि व्यक्ति को अंधकार ही पसन्द है। उससे कहा जा रहा है- प्रकाश की ओर बढ़। कहने से पैर एक बार बढ़े भी जायें पर जल्दी ही पीछे खिसक जाते हैं। अधिकांश व्यक्तियों की यही स्थिति है। कभी संत कह दें- एक सामायिक तो कर लो ईमानदारी से सोचियेगा, सहसा एक सामायिक के लिए क्या मन तैयार होता है ? हाँ भी और नहीं भी, यह स्थिति है। अपनी स्वतः की प्रेरणा से जागृत होने वाले कम मिलेंगे। कहने से प्रारम्भ कर भी दी तो फिर मन अटक जाता है- अरे कब पूरी होगी ? इसके बाद वापस अंधियारी गली में भटक जाना होता है। मौका है आगे बढ़ने का, परन्तु विरल विभूतियाँ ही आगे बढ़ती हैं।

एक प्रसंग है- नमिराजर्षि के शरीर में भंयकर दाह-ज्वर था। शरीर में जलन हो रही थी। महारानियाँ चंदन धिस रही थी। लेप किया जा रहा था, पर चूड़ियों की खनखनाहट हो रही थी। राजा को वह आवाज सहन नहीं हो रही थी। एक तो व्यक्ति को वेदना परेशान कर देती है और फिर कोई थोड़ा भी कुछ कह देता है तो वह क्षुब्ध हो जाता है, शांत अवस्था नहीं रह पाती। वह नहीं चाहता कि कोई उसके पास बैठकर बात करे। रोगी चाहता है कोई पास न बैठे, न कोई बात पूछे पर लोग तो साता पूछने पहुँचते ही हैं। बार-बार बोलाते हैं और अपनी हमदर्दी जताते हैं। नमिराजर्षि के कानों में खनखनाहट आ रही थी। एक समय था जब चूड़ियों की ऐसी खनखनाहट सुनते तो मधुर वार्तालाप के बीच कहते थे- प्रिये ! तुम्हारी चूड़ियों से वीणा के स्वर झंकृत हो रहे हैं। एक मानसिकता वह थी और बिल्कुल विपरीत मानसिकता इस समय की थी।

रामायण का एक प्रसंग है- वाल्मीकी ने उसका बहुत ही सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया है। जब रावण का वध हो गया तब राम ने लक्ष्मण से कहा कि अब विभीषण का राज्याभिषेक होने वाला है, हमने उससे

मैत्री की है तो अवसर पर तुम्हारी उपस्थिति आवश्यक है। जाओ और विधिवत् विभीषण का राज्यतिलक करो। आदेश पाते ही लक्ष्मण प्रस्थित हुए, विधिवत् राज्यतिलक संम्पन्न हुआ। उसके पश्चात् विभीषण लक्ष्मण को साथ लेकर लंका के विशिष्ट स्थलों का परिभ्रमण कराने लगे। वहाँ के प्राकृतिक दृश्यों के मनोरम सौंदर्य में लक्ष्मण डूब ही गए। उन्हें लगने लगा मानो यही स्वर्णपुरी है। परिभ्रमण के उपरांत वे राम के चरणों में पहुँचे और कहने लगे- पूज्यवर, आपकी अनुज्ञा प्राप्त कर मैं राज्यतिलक करने पहुँचा था और उसके उपरान्त लंका के प्राकृतिक दृश्यों को देखा। वहाँ की सुषमा ने मुझ पर जादू कर दिया है। आपकी आज्ञा हो तो मैं तो यहीं रुकना चाहता हूँ। राम ने वस्तुस्थिति पर चिंतन किया और लक्ष्मण को संबोधित कर कहा- अनुज, हो सकता है लंका अलकापुरी-सी हो, जिसकी प्राकृतिक सुषमा ने तुम्हें आकृष्ट कर लिया है, पर भूलना नहीं चाहिए कि अयोध्या की समता लंका कभी नहीं कर सकती। लंका-लंका है और अयोध्या-अयोध्या है। चाहे अयोध्या में सुषमा हो या नहीं, फिर भी उसकी मिट्टी को यह गौरव प्राप्त है कि वहाँ मनुष्य जन्म लेते हैं। राम के कहने का अभिप्राय अत्यंत गूढ़ था। वे कहना चाहते थे कि चाहे लंका सौंदर्ययुक्त हो, पर यहाँ जन्म लेने वाले राक्षस होते हैं, राक्षसी वृत्ति से युक्त होते हैं और अयोध्या की मिट्टी की महिमा यह है कि वहाँ धर्मनिष्ठ मानव जन्म लेते हैं। विचारें कि रहने के लिये कौन-सा देश उपयुक्त है।

नमिराजर्षि को झङ्कार सहन नहीं हुई, तो रानियों ने विचार किया, एक चूड़ी रखी और शेष अलग कर दी। नमराजर्षि को शांति से नींद आ गई। नींद खुली तो देखा आवाज नहीं आ रही थी। पूछा- “क्या बात है, चंदन घिसना बंद कर दिया क्या ?” उत्तर मिला- नहीं, चंदन भी घिसा जा रहा है और लेप भी किया जा रहा है, प्रभु ! तो पहले आवाज आ रही थी अब क्यों नहीं आ रही है ? राजन् आपकी साता के लिए एक-एक चूड़ी रखकर रानियों ने शेष चूड़ियाँ अलग कर दी हैं। बात मामूली थी,

घर में कई बार ऐसी घटनाएँ घटती हैं, बहुत-सी बातें कानों में पड़ती हैं और लगता है कि सचमुच संसार में क्या पड़ा है ? पर दूसरे ही क्षण लगता है कि सबकुछ संसार में ही है। लक्ष्मण को भी लगा था कि लंका में ही स्वर्ग समाया है, पर जब राम ने मोह का चश्मा हटाया तो हकीकत स्पष्ट हो गई। नमिराजर्षि ने देखा एक चूड़ी रह गई तो आवाज बंद हो गई। क्यों बंद हुई ? भीतर का प्रकाश प्रगट हुआ, उस दिशा में बढ़े, बोध हो गया। विचार करने लगे। चिंतन करते-करते पूर्व जन्म का वृत्तांत स्मरण हो गया। हृदय के निर्मल दर्पण में पिछले जन्म की स्थिति स्पष्ट देख ली। जाति-स्मरण ज्ञान से बोध पाकर जागृत हो गए। अंधकार से प्रकाश की दिशा में गतिशील हुए, आगे बढ़े। इन्द्र आ पहुँचा परीक्षा करने के लिए। कहीं भावावेश में तो नहीं आ गए हैं ? इन्द्र ने कहा- पहले घर बनवाईये, फिर साधु बनियेगा। उत्तर मिला- जिसे मार्ग में रुकना हो उसे घर की जखरत है, मेरा मकान तो बना बनाया है। तब कहा गया- राजन् मिथिला जल रही है, उसकी सुरक्षा करो। उत्तर मिला-

“महिलाए डञ्ज्ञमाणिए ण मे उज्ज्ञइ किंचणं ।”

“मिथिला के जलने से मेरा कुछ नहीं जल रहा है।” कभी हम विचार कर लें कि क्या नमिराजर्षि में अनुकंपा नहीं जो ऐसा कह दिया ? एक व्यक्ति पहाड़ी पर खड़ा है और एक जमीन पर खड़ा है, दोनों एक-दूसरे को देखते हैं तो दोनों परस्पर अपनी तुलना में दूसरे में बौनापन महससू करते हैं। पर यदि धरती वाला पहाड़ी पर पहुँच जाये तो उसकी दृष्टि में अंतर आ जायेगा। नमिराजर्षि जिस स्थान से आत्मिक ज्ञान के आलोक में बोल रहे थे वहाँ पहुँचने पर आप भी यही कहेंगे- मिथिला जलने पर मेरा कुछ नहीं जल रहा है। परन्तु आत्मज्ञान के उस स्तर को प्राप्त किये बिना आप ऐसा नहीं कह पायेंगे।

एक व्यक्ति नाव से नदी पार कर रहा था। उसने देखा कि परले किनारे पहुँची नाव से आदमी नीचे उत्तर रहे थे। उस भाई ने विचार किया नाव तो छोड़नी ही है क्यों न मैं अभी बीच में ही छोड़ दूँ। ऐसी स्थिति

उसके लिए धातक होगी। यदि वह भी किनारे पहुँच जाये तो उसे भी नाव की जखरत नहीं रहेगी। पर जिस मनःस्थिति में है उसमें कर्तव्य पालन करना होगा। नमिराजर्षि ने उत्तर दिया और अंधकार की गलियों में नहीं बल्कि ज्योति पथ पर बढ़ते गये। ऐसा अवसर होता है अंधकार से प्रकाश की ओर बढ़ने का, नर से नारायण बनने का। यह मनुष्य भव ही उस ज्योति को प्रकट करने का माध्यम है। उठो, जागो, सोओ मत। आप कहेंगे पर्युषण-पर्व तो चले गए, पर्व भले चले गए पर आप चाहें तो अब भी प्रकाश प्राप्त कर सकते हैं। मनुष्य-भव, आर्य-क्षेत्र, उत्तम कुल, वीतराग वाणी का संयोग मिला है, कान सुनने में तत्पर हैं और मन मनन कर रहा है तो सुनी हुई बात चिंतन में लें। जीवन को मंगलमय दिशा की ओर ले जायें, अंधकार का परित्याग कर प्रकाश पथ पर प्रस्थित हों, आपका कल्याण ही कल्याण होगा।

दि. 27.09.96



चैतन्य की ओर यात्रा

श्री सुपाश्वर्जिन वंदिए, सुख सम्पत्ति नो हेतु ललना ।
शान्त सुधा रस जल निधि, भवसागर मा सेतु ललना ॥
तीर्थकर प्रभु महावीर ने भव्य जीवों के कल्याणार्थ देशना देते हुए
कहा है-

संबुज्ञह किं न बुज्ञह ?
‘संबोही खलु पेच्च दुल्लहा’

(सूत्रकृतांग 1/2/1/1)

हे भव्यात्माओं ! बोध को प्राप्त करो । प्रश्न होता है बोध को कैसे प्राप्त करे ? बोध प्राप्ति का साधन क्या है ? संसार में रहते हुए सांसारिक कर्तव्यों का भी निर्वाह करना होता है फिर बोध को कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? उत्तर होगा कि संसार में जो भी चीज दुर्लभ होती है उसकी प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ भी करना पड़ता है । जीवन में संबोधि की प्राप्ति दुर्लभ है । संबोधि क्या है ? सम्यक् प्रकार का बोध होना संबोधि है । बोध से तात्पर्य है ज्ञान-रूप व्यापार । वह ज्ञान-रूप व्यापार सम्यक् रूप में परिणत हो यह भी आवश्यक है । ज्ञान किताबों का हो सकता है, यह भी हो सकता है कि व्यक्ति मस्तिष्क में ज्ञानावरणीय से, क्षयोपशय से लायब्रेरी भर ले लेकिन वह संबोधि नहीं होगी । संबोधि के लिए आवश्यक है मोहनीय कर्मों का क्षय, उपशय, क्षयोपशय । मोहनीय कर्मों का क्षय, उपशय या क्षयोपशय नहीं तो ज्ञान-अज्ञान रूप ही रहेगा, सम्यक् बोध रूप नहीं बन पायेगा । उसे ग्रहण करने के लिए भीतरी अध्यवसाय और मन की परिणति अपेक्षित है । मन की दो अवस्थाएँ हैं-
(1) विक्षेप रूप (2) चैतन्य रूप ।

एक अवस्था यह है कि हम अंधकार से ज्योति की ओर बढ़ें, दूसरी अवस्था है प्रकाश से अंधकार की ओर, तीसरी प्रकाश से प्रकाश की ओर गमन होना और चौथी अवस्था है अंधकार से अंधकार की ओर गमन होना। चैतन्य अवस्था है अंधकार से प्रकाश की ओर प्रयाण। लेकिन इस अवस्था को व्यक्ति प्राप्त कैसे करे? मानसिक धरातल पर अनेक प्रकार की अवस्थाओं का चित्रण होता है। व्यक्ति जब विक्षेप में जाता है तब उसका मन बोझिल तथा भावधारा एवं अध्यवसाय कलुषित होते हैं। वहाँ चैतन्य या प्रकाश की दिशा में गतिशीलता नहीं हो सकती।

सनत्कुमार चक्रवर्ती के दर्शनार्थ देव ने ब्राह्मण का रूप धारण किया। वह पहुँचा और जब उसे रोके जाने की स्थिति बनी तो उसने कहा- मैं प्यास से घबरा रहा हूँ किन्तु दर्शन किए बिना पानी नहीं पीऊंगा। अपनी दृढ़ता के कारण उसने पूर्व की अवस्था में रहे हुए सनत्कुमार चक्रवर्ती के दर्शन किए। चक्रवर्ती ने कहा- विप्रदेव! अभी क्या देख रहे हो, जिस समय मैं राजसभा में पहुँच उस समय तुम वहाँ मुझे देखना। ब्राह्मण राज सभा में पहुँचा और कहने लगा- “सप्राट मैंने जो रूप सुबह देखा था अब आपका वह सौंदर्य नहीं रहा। क्या कारण था? विप्र ने बताया आपके शरीर में 16 महारोग उत्पन्न हो गए हैं। रोग ही के नाम से व्यक्ति घबराता है और यदि कह दिया जाये कि महारोग हैं तब तो चिन्तनीय स्थिति बन जाती है।

सबसे पहला महारोग तो भीतर ही पैदा होता है। सुबह जब दर्शन किये थे तब चक्रवर्ती सात्विक अवस्था में था, पर थोड़ी ही देर में सात्विकता समाप्त हो गई, मन में अहं का पुट आ गया। प्रभु महावीर ने जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ, ऐश्वर्य इन आठ मदों का निषेध किया है। ये मद जब हमारी भावधारा से संयुक्त होते हैं तब विक्षेप दशा बनती है, जिसके कारण चैतन्य की दशा में गति नहीं हो पाती। विक्षेप दशा से आगे विक्षिप्त अवस्था बनती है। विक्षेप अवस्था अनेक प्रकार की होती है। मानसिक संतुलन व्यवस्थित नहीं तो भी विक्षिप्त अवस्था बनती है। उस अवस्था में मनोचिकित्सक उपचार करना भी चाहे पर जब

तक भावधारा में कालुष्य या कीटाणु है तब तक मन और मानसिक संतुलन व्यवस्थित नहीं बन सकेगा। उसे व्यवस्थित करने के लिए भावधारा की शुद्धि आवश्यक है। शुद्धि हुई तो चैतन्य दशा उपलब्ध हो जायेगी।

एक माँजी ने सुना कि कपड़े की मिल में आग लग गई है। उसने अपनी लकड़ी संभाली और तेज कदमों से उस दिशा में जाने लगी। मार्ग में युवकों ने देखा आज माँजी तीव्र गति से जा रही है। पूछा- माँजी कहाँ जा रही हो ? उसने कहा- कपड़े की मिल में आग लग गई है। तो माँजी ! क्या तुम बुझाने जा रही हो ? बेटे मुझमें कहाँ शक्ति है कि उसे बुझा सकूँ। मेरा लड़का उस मिल में काम करता है, कहीं वह भी आग की उस चपेट में न आ गया हो, उसकी सुध लेने जा रही हूँ। युवक भी माँजी के साथ हो गए। वहाँ देखा बहुत नुकसान हो चुका था, जो कर्मचारी विशेष आहत हुए थे उन्हें अस्पताल पहुँचाया जा चुका था। माँजी को अपना पुत्र रमन वहाँ नहीं मिला तो वह भी अस्पताल में पहुँची। वहाँ आने वाले प्रत्येक व्यक्ति से जानकारी मिलती कि किसी का कोई अंग जल गया है, किसी का कोई अंग। दर्द से वे कराह रहे थे। दर्दनाक दृश्य था। माँजी का दिल बैठने लगा। क्या रमन की भी यह दशा हुई होगी ? खोज भी की पर कुछ पता नहीं चला। वृद्धा सोचने लगी- कहीं वह आग में ही तो नहीं जल गया। व्यक्ति के भीतर अशुभ कल्पना जल्दी उभरती है। माँजी ही नहीं सामान्य व्यक्ति भी गलत आशंका जल्दी कर लेता है। कहीं कोई दुर्घटना, एक्सीडेंट हो जाए और उस दिशा में कोई पारिवारिक सदस्य गया हुआ हो तो सहज ही भाव बनते हैं कि उसे कुछ हो न गया हो। यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। युवकों ने कहा- माँजी अधीर मत बनो हम तुम्हारे पुत्र को खोज निकालेंगे। उन्होंने खोज की तो एक पलंग पर रमन मिल गया। उसकी दोनों आँखे जा चुकी थी, सीने का भाग जल गया था। वह बेहोशी की अवस्था में था। माँजी को वहाँ लाया गया। नर्स उपचार में लगी थी। माँजी ने देखा, उनका मन अनेक दुश्चिंताओं से ग्रस्त था। देखते ही वह तो पछाड़ खाकर गिर पड़ी। उनका मातृत्व भाव

पुत्र के प्रति उमड़ आया था, उन्हें होश में लाया गया। नर्स ने माता के भावों को देखा तो सोचा इनसे कह दिया जाये कि ज्यादा जल गया है तो कुछ अन्यथा भी घटित हो सकता है। अतः उसने कहा- “ज्यादा तकलीफ नहीं है। थोड़ी देर में होश आ जायेगा। थोड़ी-सी सीने की चमड़ी जली है, आँखें जा चुकी हैं। सीने पर चमड़ी लगाने की जरूरत पड़ेगी। माँ ने कहा- मेरी चमड़ी ले लो। नर्स ने कहा- तुम्हें तकलीफ होगी। यह क्या कह रही हो बेटी, मेरा पुत्र ठीक हो जाये, तो मैं शरीर की चमड़ी देने के लिए भी तैयार हूँ। चमड़ी का उपयोग किया गया। माँजी ने कहा- मैंने तो दुनिया बहुत देख ली अब कोई खाहिश नहीं रही। मेरी आँखें भी यदि काम आती हो तो मेरे पुत्र को ज्योति दे दो। माता का पुत्र के प्रति कितना प्रबल वात्सल्य भाव होता है। एक पुत्र के बजाय यदि प्राणीमात्र के लिए ऐसे भाव बन जाएं तो धरा पर स्वर्ग उतर जाये। प्रभु ने कहा है-

“सव्वभूयप्प भूयस्य, सम्मं भूयाइ पासओ।”

अर्थात् वह सभी को अपनी आत्मा के समान देखने लगता है। पर यह तब होता है जब मनुष्य प्रकाश की दिशा में प्रस्थित होता है। वृद्धा हर तरह से अपने पुत्र को ठीक देखना चाहती थी। नर्स ने भी माता की स्थिति देखकर तन्मयता से सेवा की। पुत्र ठीक हो गया, परन्तु आँखें नहीं रही थी। माँ ने विचार किया- पुत्र तुमने बहुत सेवा की है, मैं तुम्हारा उपकार कैसे चुकाऊँ? रमन ने भी विचार-विमर्श किया, तुम्हारी पगार में से सिर्फ पाँच रूपये बचे हैं, ये पाँच रूपये दिये जाएं तो ओछी बात होगी, पर घर में कुछ नहीं। वृद्धा आर्थिक दृष्टि से कमजोर थी, पर हृदय में अमीरी भरी थी। पाँच रूपये क्या दूँ कोई भेंट दूँ। पर लाऊँ कहाँ से? मन मारकर पाँच रूपये देने लगी। नर्स ने माँ के भावों को पहचान लिया, उसका हृदय द्रवित हो गया, आँसू बहाते हुए कहने लगी- मैंने अपने कर्तव्य का पालन किया है। आपने मुझे पुत्री कहा है तो बहन का भाई के प्रति जो कर्तव्य होता है मैंने उसी भावना से सेवा की है, अपना फर्ज निभाया है। माता-पुत्र घर आ गए।

गरीबी का ही तो सारा खेल था । रमन जब बाल्यावस्था में था तब माँ चक्की पीसकर गुजारा करती थी । रमन बड़ा हुआ, नौकरी लग गई तो उसने माँ से कहा- माँ अब तुम आराम करो मैं कमाकर लाऊँगा, उससे जीवन बसर करना । माँ की चक्की छूट गई । आज फिर माँ विचार कर रही थी । अच्छा हुआ मैंने रमन का विवाह नहीं किया । अभी तक तो संबंध ही हुआ था, यदि शादी की हो गई होती तो उस बेचारी की क्या दशा होती । मैं उसके भरण-पोषण का जुगाड़ कैसे करती ? माँ तो इन्हीं विचारों में झूबी थी कि अनायास घर में एक बहन ने प्रवेश किया । माँ के चरण स्पर्श किए तो माँ ने पूछा- बेटी तू कौन है ? आपकी बहू । माँ ने गौर से देखा जिसके साथ रमन की बात तय हुई थी यह वही थी । लेकिन बेटी । यह नहीं हो सकता, मैं तुम्हारे जीवन के साथ खिलवाड़ नहीं कर सकती, तुम्हारे जीवन को झुलसा नहीं सकती । मैं भले ही अंधकार में हूँ पर दूसरे को अंधकार में ढकेलना नहीं चाहती । बहू कहने लगी- मैं आ चुकी हूँ । “नहीं बिटिया यहाँ नहीं, अब तेरे नसीब जहाँ ले जायें वहाँ पहुँच जा” । माँ मैं तो पहुँच चुकी हूँ अब मैं सदा के लिए आ गई हूँ- कहते हुए उसकी रुलाई फूट पड़ी । बेटी तू कैसे आ गई । माँ मुझे जानकारी मिली की दुर्घटना हो गई । माता-पिता ने कहा- जिसके साथ इसका संबंध किया है वह तो जल गया है, अब दूसरे युवक की तलाश करनी होगी । मेरी अंतरात्मा कहने लगी मुझे दुनिया के आकर्षण में नहीं जीना है । यह आकर्षण तो मन को विक्षेप दशा की ओर ले जाने वाला है, चैतन्य की राह में नहीं । मुझे चाहिए चैतन्य की राह, उसी चिंतन से मेरे भीतर एक अद्भुत शक्ति का जागरण हुआ । मैंने पिताजी से कहा- यदि दुर्घटना नहीं होती तो आप उनके साथ मेरा विवाह करते या नहीं ? पिताजी ने कहा- तब तो अवश्य करता । मैंने कहा- तो फिर कुलीन कन्या एक बार जिसे अपना हृदय समर्पित कर देती है फिर उस स्थान पर दूसरे को स्थापित नहीं कर सकती । पिताजी से कहकर मैं आई हूँ और आप प्रमाण देखना चाहें तो बाहर पथारें । माँ ने बाहर जाकर देखा- रमण खाट पर सो रहा था, उसके गले में वरमाला पड़ी थी और एक माला उसके

हाथों में पड़ी थी। रमण जागा, उसने भी कहा- नहीं, नहीं मैं यह स्वीकार नहीं कर सकता। तुम भी चैन से रहो मुझे भी रहने दो, मुझे यह संबंध स्वीकार नहीं है। घटना लम्बी है। दोनों के बीच काफी संवाद हुआ। आखिर बहन ने कहा- मैंने एक बार माला डाल दी अब कुछ नहीं हो सकता है और उसने रमन के हाथों से माला गले में पहन ली। शादी हो गई। वह सास और पति की सेवा में संलग्न हो गई। वह पढ़ी-लिखी थी। कुछ समय बाद वह करोड़पति सेठ जिसकी मिल मे आग लग गई थी, एक नर्स को साथ लेकर माँजी की झौंपड़ी में पहुँचा। उसने कहा- मुझे दुःख है कि रमन की आँखें चली गई, सीने की चमड़ी भी जल गई। मैं आँखें तो नहीं लौटा सकता, पर ये दस हजार रुपये मैं आपके सहयोग के लिए कम्पनी की ओर से प्रस्तुत करता हूँ। रमन की पत्नी भी बाहर आई। उसने सेठजी को नमस्कार किया और कहा- ‘ये बात सही है कि इनकी आँखें चली गई, पर मेरी आँखें मौजूद हैं और उनसे घर का कार्य अच्छी तरह से चल जायेगा। आपकी कम्पनी में अनेक ऐसे व्यक्ति भी हैं जिनकी हालत इनसे भी अधिक बुरी है, उन्हें विकटतर समस्याओं से जूझना पड़ रहा होगा, अतएव ये रुपये उन्हें दे देवें ताकि उनका जीवन व्यवस्थित हो सके। ऐसी विकट परिस्थितियों में भी अपना मानसिक संतुलन बनाये रखकर घर के दायित्वों का निर्वाह विरले ही कर पाते हैं।’

ऐसे कर्तव्यनिष्ठ लोगों में छत्तीसगढ़ की महिलारत्न श्रीमती रत्नादेवी ओस्तवाल का नाम भी सम्मिलित किया जा सकता है। जब उन्होंने सुना कि एक परिवार के पाँच-सात बच्चे अनाथ हो गये हैं, उनकी माता का निधन हो गया है तब उन्होंने यह समझ लिया कि यदि ऐसी स्थिति में बच्चों को सहयोग न मिला तो उनका भविष्य सुरक्षित नहीं रह पायेगा। अतः उन्होंने निर्णय किया और उन बच्चों की परवारिश का दायित्व अपने हाथों में ले लिया तथा अनुशासन, वात्सल्य एवं संस्कारों से उनके जीवन को सजाया। परन्तु ऐसी बहनें, महिलाएँ भी विरल ही होती हैं, जिनका जीवन प्रकाशमान होता है। व्यक्ति सोचता है कि वैवाहिक संबंध सिर्फ मोह का रूप है। हो सकता है मोह रूप भी हों, लेकिन जिन्होंने अपना

संबंध प्रकाश से जोड़ा है वे उस संबंध को मोह का नहीं कर्तव्य का संबंध मानते हैं। रमन से जिस बहन ने संबंध जोड़ा था उसके हृदय में मोह प्रधान नहीं था। दुनिया की निगाहों में भले ही उसका विवाह नहीं हुआ होगा, पर उसने परिवार की सेवा के लिए स्वयं को समर्पित कर दिया। नर्स भी विचार करने लगी कि किसे उत्तम कहूँ- वृद्धा माता को, पुत्र को या ऐसी बहन को ?

प्रतिकूल परिस्थितियों में भी कर्तव्य भाव जागृत रहें, प्रकाश, चैतन्य की दिशा में पैर आगे बढ़ते रहें। ऐसी चेतना हमारे भीतर जागृत हो यह प्रयास करना चाहिए। हम कर्तव्यों का निर्वाह करते हुए प्रकाश पथ पर गति कर पायें इस हेतु सजग रहना चाहिए। अमिय देशना का रसायन पाकर अंधकार से प्रकाश पथ पर बढ़ना कठिन नहीं है। हम ध्यान रखें कि कहीं हमारे सामने पड़ोसी भूखा तो नहीं है ? अपाहित की सेवा के लिए अनुकम्पा, दया, करुणा का झरना बहा या नहीं ? यदि हकीकत में करुणा स्रोत फूट पड़ता है तो हम प्रकाश की दिशा प्राप्त कर लेंगे। प्रभु की देशना का अपने बुझे दीप से स्पर्श कराईये। ज्ञान की बातें बहुत सुनते रहते हैं, सुनकर ही चुप नहीं रह जाना चाहिए अपितु उन्हें आचरण का अमली रूप भी देना चाहिए। जीवन में अनोखे मोड़ आते हैं, यदि मन की विक्षेप अवस्था बन गई तो गिर पड़ेंगे। लेकिन चैतन्य की दिशा में मुड़ गए तो उत्थान भी कर सकते हैं। विक्षेप से चैतन्य की ओर बढ़ें तो अंधकार छंटता चला जाएगा फिर प्रकाश की ओर प्रयाण होगा। जब हमारे भीतर प्रकाश प्रकट हो जाएगा तब उसमें जो हमारी गति, स्थिति एवं अवस्था बनेगी वह अद्भुत तथा अनिर्वचनीय होगी, वह सिर्फ अनुभूति का विषय होगी।

दि. 28.09.96



चरे पयाइं परिसंकमाणो

श्री सुपाश्वर्जिन वंदिए, सुख सम्पत्ति नो हेतु ललना ।
शान्त सुधा रस जल निधि, भवसागर मा सेतु ललना ।

साधना का क्षेत्र अत्यंत गहरा है, इसकी गहराई को ‘अतल’ कहा गया है। अतल अर्थात् जिसका तल, छोर या अंत नहीं है। साधक साधना की वीथियों में बढ़ता है कुछ पाने और कुछ खोने के लिए। खोना भी उसकी प्राप्ति में आवश्यक है, क्योंकि नहीं खोने से उसे जो प्राप्त होने वाला है वह भी प्राप्त नहीं हो सकता है। यह चिरंतर सत्य है कि जिसे बनाया जाता है या जो बनता है वह बिगड़ता भी है, जिसका निर्माण होता है उसका ध्वंस भी होता है, जहाँ जन्म है वहाँ मृत्यु भी अवश्यंभावी है। जन्म कौन लेता है ? निर्माण किसका किया जाता है ? हम जन्म के साथ किसका संयोजन करते हैं और मृत्यु के साथ किसका संबंध जोड़ते हैं ? ये सब गंभीर विषय हैं और भूलभूलैया की स्थिति बना देते हैं, जिस कारण हम भटक जाते हैं। इसीलिये प्रभु ने कहा है-

चरे पयाइं परिसंकमाणो ।

साधक से कहा गया है तू शंकित होता हुआ चल। हर एक कदम तुझे सोच-समझकर रखना है। परन्तु दूसरी ओर कहा गया है- ‘संशयात्मा विनश्यति’ संशयशील आत्मा विनाश को प्राप्त होती है। यदि शंकायुक्त होकर चलेगा तो जीवन दुरुह हो जायेगा। हर कदम पर शंका की तो साधना-आराधना कैसे करेगा ? शंकाशील अवस्था व्यक्ति को आगे बढ़ने नहीं देती, यह प्रत्यक्ष अनुभव है। फिर यदि शंका रही तो प्रभु का

यह उपदेश/आदेश/सुझाव व परामर्श साधकों के लिए लाभदायी कैसे हो सकता है ? प्रभु ने स्पष्ट कहा है-

जं किंचि पासं इह मण्णमाणो ।

कितना गहरा सूत्र है। प्रभु ने निर्देश दिया है- ‘जं किंचि’ जो कुछ भी दुनिया में तुम्हारे सामने आ रहा है, वह प्रत्येक पदार्थ जो दृष्टिगोचर हो रहा है, जिसके प्रति आकर्षण या लगाव है, जो ‘पास’ अर्थात् पाश अर्थात् बंधन का काम करने वाला है। उसका आकर्षण तुम्हें मुक्त नहीं होने देता बल्कि बांधने का काम करता है। इसलिए साधना वीथी पर निर्लेप अवस्थ में चलो। यदि कहीं भी इन पदार्थों के प्रति आकर्षण बन गया तो पाँव रुक जायेंगे, आगे बढ़ नहीं पायेगा। वेदों में कहा गया है- ‘चरैवेति चरैवेति’ विराम न लो, चलते चलो। कहाँ तक चलता रहे यह भी पहले नहीं सोचना। बस चलते चलो, बढ़ते चलो। आकर्षण में नहीं पड़ना है। ट्रेन, बस या गाड़ी में बैठने वाला यात्री यात्रा कर रहा है। खिड़की से वह बाहर के दृश्य भी देख रहा है। वे दृश्य उसे अच्छे भी लगते हैं, पर वह उनसे जुड़ता नहीं है। यदि जुड़ गया तो गाड़ी आगे नहीं बढ़ पायेगी। उसे वहाँ रुकना होगा। यदि एक बार भौतिक पदार्थ के आकर्षण में पड़ गया तो वह आकर्षण साधना की गति को रोक देगा। पकड़ में आ जाओगे तो फिर साधना की निष्पत्ति नहीं होगी, बाधा आ जायेगी। साधना के क्षेत्र में चलते-चलते कई बार साधक को लगता है कि बहुत कुछ पा चुका हूँ, गहराई तक पहुँच गया हूँ और आगे साधना की आवश्यकता नहीं है। हृदय का दीप प्रज्वलित हो गया है। ऐसी अनेक अवस्थाएँ उसके सम्मुख उत्पन्न होती हैं। इसीलिए प्रभु ने कहा है- “सावधान ! हम भूलभलैया में न पड़ जाएँ”। जंगल की पगड़ंडी पर चलने वाले को सावधानी रखनी होती है। यदि चलते-चलते वह मूल पगड़ंडी को छोड़कर पशुओं द्वारा बनाई गई पगड़ंडी पर चला जाये तो वह भटक जायेगा, सही लक्ष्य तक नहीं पहुँच पायेगा। यह साधना का पथ भी बीहड़ एवं कंटकाकीर्ण है, झाड़ियाँ हैं, ऐसी स्पष्ट पगड़ंडियाँ भी हैं कि

साधक को लगे कि वह पूर्ण अवस्था में आ चुका है। पर इस पूर्ण अवस्था की पहचान हम कर पायें यह बहुत कठिन है। हमारे भीतर का दीप बहुत समय तक बुझा पड़ा रहता है, कभी-कभी ही प्रज्ज्वलित होता है। पर यदि हम गफलत में रह, सावधानी नहीं रखें तो यह दीप बुझ भी सकता है। उस दीप की ज्योति के माध्यम से देखने की कोशिश करें कि यथार्थ में दीप जला है या हमें भ्रांति हो रही है।

यहाँ 'मैं' शब्द पर भी विचार करें। 'मैं' शब्द दो अर्थों को ध्वनित करता है। एक 'मैं' आत्मा के लिए, चैतन्य देव के लिए है। दूसरा 'मैं' अहं के लिये प्रयुक्त होता है। इन दोनों 'मैं' के बीच एक ज्योति भी है। 'अहं' भी एक रूप में चेतना की ज्योति है। आप कहेंगे- 'अहं' ज्योति कैसे है ? एक अवस्था 'अहं' की है इसमें व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को निखारने में लगता है, व्यक्तित्व की टोह में लगता है, पर इस समय यथार्थ में यदि चैतन्य दीप जल जाये तो फिर वह अपने अस्तित्व को देखने के लिए उद्यत होगा। वह यथार्थ में चैतन्य की ज्योति होगी। आत्मा की ज्योति में बनावट नहीं होती पर अहं में बनावट होती है, सजावट होती है। अहंकार सदैव व्यक्तित्व को निखारने में लगेगा, पर चेतना से अस्तित्व को देखने में वह अनुभव में देखेगा कि मेरे अस्तित्व का कैसा रूप है, कैसा स्वरूप है ?

एक संत वोकोजु एक बार एक प्रतिमा पर पुष्प समर्पित कर मंदिर से बाहर निकले। संत ख्याति प्राप्त थे। जनता उनके दर्शनों के लिए आत्मर बनी हुई थी। जैसे ही महात्मा बुद्ध की प्रतिमा पर पुष्प अर्पित कर संत बाहर आये भीड़ ने घेर लिया और कहने लगी- “हमें उपदेश दीजिये, ज्ञान दीजिये, आत्मबोध कराईये”। संत कहने लगे- सुनना चाहते हो ? सभी ने कहा- हाँ, सुनना चाहते हैं। संत ने कहा- अच्छा चलो, किसी योग्य स्थल पर। वे सभी लोग उपयुक्त स्थान पर पहुँचे। उपयुक्त स्थान पर पहुँचकर संत ने कहा- मैं आज प्रतिज्ञापूर्वक कह रहा हूँ कि बुद्ध कभी हुए नहीं हैं और यदि कोई मानता है कि बुद्ध हुए हैं तो यह झूठ है।

श्रोता विचार में पड़ गये, यह क्या बात है ? यदि बुद्ध नहीं हैं तो जो मानते हैं कि बुद्ध हैं यह झूठ हुआ । यह संत आज अभी ही प्रतिमा पर पुष्प अर्पित करके आए हैं और कह रहे हैं ? संत ने कहा- बात इतनी ही नहीं हैं, मैं पुष्प चढ़ाकर आया हूँ और संध्या को फिर चढ़ाऊँगा पर फिर भी मैं कह रहा हूँ कि मेरा कभी जन्म ही नहीं हुआ और मैं मरुंगा भी नहीं ।

बात गंभीर एवं समझने की है । जरा सोचिये कि जन्म किसका होता है ? जो जन्मता है वह मरता भी है, जो बनता है वह बिगड़ता भी है, जिसका निर्माण होता है उसका ध्वंस भी होता है । शरीर का जन्म होता है, मन का जन्म या निर्माण होता है । हमारे भीतर अहं, जिसे आज की भाष में ‘ईगो’ भी कहते हैं, उसका भी जन्म होता है । यह ‘ईगो’ आपके व्यक्तित्व को निखारने की कोशिश करता है । वह निखर पाये या नहीं, यह अलग बात है । उसी व्यक्तित्व पर छोट लगी, मान पर छोट लगी तो कहेंगे कौन है छोट करने वाला ? व्यक्तित्व पर छोट हुई तो आत्मा सामने नहीं आयेगी । जिसकी चेतना का प्रत्यय चेतना के प्रति स्वीकृति है, वह सोचता है व्यक्तित्व कुछ है ही नहीं, वह चला भी गया तो कुछ नहीं गया । आप जानते हैं कि आत्मा का जन्म-मरण नहीं होता । ये अवस्थाएँ तो शरीर के साथ संयोजित है, शरीर के साथ ही नाम आदि सारे लिबाज में जुड़ते हैं । शरीर यंत्र यदि काम करना बंद कर दे तो हम जान लेते हैं वहाँ चेतना का स्थान शेष नहीं रहा । मरता शरीर है, चैतन्य नहीं । चैतन्य तो अखण्ड है, उसके टुकड़े नहीं होते हैं । गीता में कहा है-

नैनं छिन्दंति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः

शस्त्र उसे छेद नहीं सकते, अग्नि उसे जला नहीं सकती, हवा उसे सुखा नहीं सकती, पानी उसे गला नहीं सकता । जलना, गलना आदि तो पुद्गल के गुण हैं । जब तक शरीर साथ में है वह जलता है । इस प्रकार शरीर के साथ अर्थात् पौद्गलिक पर्याय के साथ यह स्थिति है, पर आत्मा की यह स्थिति नहीं है । संत वोकोजु की बात सुनकर जब व्यक्ति रवाना

होने लगे तब संत ने कहा- “जा रहे हो तो कोई बात नहीं, पर एक बात और सुन लो”। भक्तों के पैर ठिठक गए, वोकोजु कहने लगे- “तुम लोग भी जन्मे नहीं हो और मरोगे भी नहीं”। जरा सोचें- कोई हमारी अमरता का पट्टा लिख दे तो हम कितने निश्चित हो जायेंगे। मृत्यु का भय ही व्यक्ति को सताता है।

सात महाभय में एक मृत्यु का भय भी है और भयों से तो फिर भी निपटने की कोशिश की जाती है पर इस भय पर हमारा जोर नहीं। कोई चाहे, अरबों-खरबों रुपये खर्च कर इस मृत्यु को टाल दूं तो क्या मृत्यु टल पायेगी ? तीर्थकर जो अनन्त शक्ति सम्पन्न होते हैं, जिनकी शक्ति को उपमित करते हुए बताया जाता है कि यदि वे लोक कों गेंद रूप मानकर उसे एक टल्ला भी लगायें तो यह गेंद अलोक में कहाँ जाकर गिरेगी, मालूम नहीं पड़ेगा। पर वे तीर्थकर भी आयु का क्षण बढ़ाने में समर्थ नहीं। जितना आयुबल प्राण का कार्य है, उतने दिन ही जीवन रहेगा, फिर मरण अवश्यंभावी है क्योंकि यह अनुबंध के साथ प्राप्त होता है। आप जानते हैं कि व्यापार में जिस प्रकार अनुबंध होता है उसी प्रकार भुगतान किया जाता है। इसी प्रकार इस शरीर के साथ आयु, पंचेन्द्रिय जाति आदि अवस्थाएँ अनुबंधित होती हैं। कितने समय तक इसमें रहना है यह हम अनुबंध कर लाये हैं। संभव है व्यापार में छूट मिल भी जाए पर यहाँ छूट नहीं मिलेगी। गति आयु, पंचेन्द्रिय जाति स्थिति जैसा अनुबंध है वैसी ही प्राप्ति होगी। यदि अनुबंध नहीं हुआ तो वहीं शरीर छोड़ने का प्रसंग बन जायेगा, आत्मा की सिद्धि हो जावेगी।

संत ने जो बात कही वह श्रोताओं को समझ में नहीं आयी, आनी भी नहीं थी। जब तक व्यक्ति उस अवस्था में जी नहीं लेता तब तक उससे संबंधित बात समझ में नहीं आती आवरण से आवृत्त यह आत्मा न जाने कैसे-कैसे कृत्य करती है। वह कैसे जागृत हो ? उत्तर है यदि यह आश्वासन मिल जाये कि तुम्हारी मृत्यु नहीं होने वाली है। परन्तु यह तभी संभव होगा जब हम अपने अस्तित्व को सही रूप में जान पायें कि

मैं भूत में था, वर्तमान में हूँ और भविष्य में भी रहूँगा, फिर न कभी मरण होगा न जन्म होगा। यह अस्तित्व का धरातल होगा। जब इस अस्तित्व की जानकारी होगी तभी व्यक्ति आवरण को दूर कर पायेगा। आवरण ही है जो उसे चैन नहीं लेने देता, भय और संशय की स्थितियों में ले जाता है, परिणामस्वरूप व्यक्ति चिंताओं में घुलता रहता है।

एक युवक ग्रेजुएट हो गया। आगे पढ़ना चाहता था, पर घर में इतनी संपत्ति नहीं थी, न साधन ही थे कि आगे पढ़ाई कर पाता। सोचा, अब नौकरी कर लेनी चाहिए। पर कहाँ करूँ ? कैसे करूँ ? नौकरी की तलाश में अनेक संस्थानों, प्रतिष्ठानों में पहुँचा। घूमता रहा, नौकरी नहीं मिली, बेचारा बेरोजगारी का शिकार हो गया। घर के साधन भी समाप्त होते नजर आने लगे। चिन्ता हो गई कि अब जिन्दगी कैसे चलेगी ? डूबते को तिनके का सहारा मिला। एक पत्रिका में वैकेन्सी निकली, उसकी आँखों में चमक आ गई चिड़ियाघर में कुछ व्यक्तियों की आवश्यकता है, इच्छुक व्यक्ति सम्पर्क करें। वह भी आशा में पहुँचा। इंटरव्यू के लिए लम्बी कतार लगी थी। उसने एक अफसर से निवेदन किया- साहब ! मैं बहुत गरीब हूँ। बी.ए. पास कर लिया, पर कहीं नौकरी नहीं मिली। आपकी बड़ी कृपा होगी कहीं नौकरी दिला दें। साहब ने युवक को ऊपर से नीचे तक निहारा, चेहरे की रंगत देखी, भांप गये कि यह दयनीय स्थिति में जी रहा है। अफसर दयालु प्रकृति के थे, कुछ करुणा के भाव उभर आये, नाम दर्ज कर लिया। कहा- देखो भाई नौकरी करना चाहते तो 300 रुपये मासिक वेतन मिलेगा। “मुझे काम क्या करना होगा” ? उत्तर मिला- भाई ज्यादा कोई श्रम का काम नहीं है। हमारे यहाँ भालू के पिंजरे में भालू को मृत घोषित किया गया है, खाल पिंजरे में पड़ी है, उस खाल को ओढ़कर सीमित समय तक भालू का पार्ट अदा करना है। युवक ने मंजूर कर लिया। दुनिया का मनोरंजन करने लगा। एक दिन पास के पिंजरे का दरवाजा खुला रह गया, उस पिंजरे में शेर घूम रहा था। अनायास वह शेर धीरे-धीरे उस ओर बढ़ने लगा और उसने दरवाजे को

धकेला व भालू के पिंजरे में प्रविष्ट हो गया। पिंजरे में बैठे भालू रूपी युवक के छक्के छूटने लगे। अब कैसे बचूँगा? 300 रूपये के वेतन ने भारी मुसीबत में डाल दिया गया था। कोई उपाय भी नहीं सुझ रहा था। सोचने लगा- पिंजरा भी चारों तरफ से बंद है, भागूँ भी तो कैसे? शेर बहुत निकट आ गया। भालू दीवार के सहारे सटकर खड़ा हो गया, आँखें बंद कर ली। धिग्धी बंध गई, उसने अपने आप को परमात्मा के सुपुर्द कर दिया। ‘हे भगवान! मुझे बचा लो’। ऐसे ही समय में भगवान याद आते हैं। वैसे चाहे नास्तिक ही क्यों न हो और अन्य समय भले ही भगवान को गालिया ही देता हो। दुःख में सुमरिन सब करे। अरे भाई भगवान की शरण में जाना था तो अब तक अपने व्यक्तित्व को निखारने में क्यों लगा था, अस्तित्व पर निगाह क्यों नहीं गयी? अस्तित्व की पहचान के लिए भीतर का दीप प्रज्ज्वलित करना होता है। आवश्यकता है कि हम भीतर के परमात्मा को जान पाएँ।

भालू प्रकम्पित हुआ, शेर नजदीक आ गया था। उसने पंजा ऊपर उठाया और भालू के कंधे पर रख दिया। भालू घबराया। शेर ने कहा- “दोस्त घबराओ मत”। भय आश्चर्य में बदल गया। क्या शेर भी मानव भाषा बोलता है? शेर ने उस विस्मय का भी निवारण कर दिया। मित्र मैंने तुम्हारी रामायण जान ली है। मैं भी एम.ए. पास हूँ, पर बेरोजगारी की वजह से यहाँ चला आया ताकि अपने व्यक्तित्व को निखार सकूँ। दुनिया में अहं का पोषण कर सकूँ। अरे यह बी.ए. पास, एम.ए. पास का क्या चक्कर है? उन्होंने अपनी-अपनी खालें उतारी और अस्तित्व की ओर चल पड़े। कुछ ऐसी ही स्थिति हम सभी के साथ है। अभी तक हमने व्यक्तित्व का जामा पहन रखा था, पर जब भीतर का दीप जला तब मालूम हुआ कि तुम्हारा यह अस्तित्व नहीं है, कुछ और अस्तित्व है। खाल छोड़ दी। नौकरी छोड़ दी जैसी बातें सुनकर हमें हँसी आ सकती है। पर जहाँ आप फैकट्री में या ऑफिस में रह रहे हैं, कभी यह सोचा है कि समाज में क्या हो रहा है? लेकिन जब तक उस स्तर पर नहीं आएंगे तक तक नहीं जान पाएंगे कि सामाज की कैसी दयनीय स्थिति है।

समाज के प्रत्येक व्यक्ति को यदि सुनना है तो उसकी बात आप फैकट्री की या बंगले की ऊपरी मंजिल से नहीं सुन सकेंगे, भूमि पर आकर उनके साथ बैठना होगा ।

धार्मिक आयोजनों में भी इस अहं की बात आ जाती है, पोजीशन का प्रश्न उपस्थित हो जाता है । छोटे संत प्रवचन दे रहे हैं तो क्या सुनना, बड़ों को सुन लेंगे । पर यदि सच्ची भूख लगी है तो हम यह नहीं सोचते कि मालिक परोस रहे हैं या उनके घर का कोई छोटा सदस्य या सेवक परोस रहा है । चाहे कोई परोसे हमारी थाली में भोजन सामग्री आनी चाहिए । यदि भूख ही नहीं है, पेट भरा है तो चाहे मालिक भी क्यों न परोसे आपकी निगाहें पराई थाली में झाँकेगी और अहं बीच में आ जायेगा । अरे ! उसे तो सत्कार के साथ परोसा जा रहा है, ऐसा भोजन किस काम का ! वास्तविकता तो यह है कि भूख नहीं है । यही बात उन लोगों के साथ होती है जो व्याख्यान सुनने नहीं, अपने अहं का पोषण करने प्रवचन स्थल पर आते हैं । अन्यथा ज्ञान की बातें तो छोटे संत भी बताते हैं और यदि उनसे कहीं चूक हो जाय तो विनम्रतापूर्वक उस ओर संकेत किया जा सकता है । आखिर वे भी सभी कुछ त्यागकर साधु बने होते हैं । स्वयं को उनके स्तर पर रखकर देखना चाहिए । आज तो यह हो रहा है कि सम्पन्न व्यक्ति सम्पन्न के साथ ही मिलता है, उसे ही महत्व देता है । स्थिति यह है कि-

माया से माया मिले, कर कर लम्बे हाथ ।
तुलसी हाय गरीब की, कोई न सुनता बात ॥

गरीब जिसके न खाने का ठिकाना है रहने का, उसकी चिन्ता कोई नहीं करता । पर यदि समाज को संगठित करना है तो प्रत्येक व्यक्ति के साथ आगे आना होगा । बाहर से नहीं अंदर से परस्पर जुड़ना होगा, एक साथ धरती पर चलना होगा, हर व्यक्ति के दिल की धड़कन सुननी होगी । वह संगठन जुड़ेगा जहाँ हर व्यक्ति अपने अहं की कुर्बानी के लिये तत्पर रहेगा ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बात अहं के विसर्जन से ही जुड़ती है, चाहे क्षेत्र समाज का हो या आत्मा का। अहं एक आवरण बनकर व्यक्ति की वृत्तियों पर चढ़ जाता है और उसे सहज नहीं रहने देता। बात समझ में तभी आती है जब सभी क्षेत्रों में असफलता से सामना होता है ! आत्मा के तार ही परस्पर जुड़ते हैं और संयुक्त होते हैं। इस संयोजन से जो संगीत उत्पन्न होता है वह यदि समाज में सुख, शांति, सौहार्द और व्यवस्था का निर्माण करता है तो आत्मा के क्षेत्र में ‘स्व’ के विजर्सन द्वारा परमात्म से संयुक्त होता है और भव-बाधा का विनाश करता है। इसलिये संत कवि कबीर ने कहा था-

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नाहिं ।

जगत् अंधेरा मिट गया, दीपक देख्या माँहि ॥

इस आत्मा को ही दीपक के रूप में उपमित किया गया है। यही जब प्रकाशमान होती है तब संशय और भ्रम मिट जाते हैं और पूर्ण सत्य से साक्षात्कार की स्थिति बनकर अपने अस्तित्व का ज्ञान हो जाता है। परन्तु इस दीपक को अपने ही प्रयासों से प्रज्ज्वलित करना होता है। गुरु, धर्मग्रन्थ और सज्जन पुरुष, राह दिखा सकते हैं, प्रेरणा प्रदान कर सकते हैं, पर मंजिल तक पहुँचने के लिये चलना स्वयं को ही पड़ता है। इसलिए कहा जाता है- अप्प दीपो भवः “अपने दीप स्वयं बनो ।”

परन्तु संसार की समस्या यह है कि यहाँ कोई अपने आत्म रूप में नहीं है। सभी किसी जाति, वर्ग, पद, कुल आदि की खाल ओढ़े हुए हैं और इस प्रकार दूसरों को तो धोखा दे ही रहे हैं स्वयं को भी ठग रहे हैं। भौतिकता जब प्रबल हो जाती है तब आत्मतत्त्व स्वतः ही दुर्बल हो जाता है। तब चिन्ता दिखावे की, बाह्य रूप की, ओढ़े हुए आच्छादन की रह जाती है और उसे बचाने के प्रयास में मनुष्य अनोखे कार्य करता रहता है। हम चाहें तो इसे ही माया कह लें जो नाना रूपों में व्यक्ति को ग्रसित कर उसे अपने इष्ट मार्ग से च्युत कर देती है। इसलिये यदि साधक से कहा जाता है “तू शंकित होता हुआ चल” तो उसका भी महत्व है

क्योंकि उस स्थिति में वह खोजबीन का भाव रखेगा और करणीय का विवेक करने में सक्षम होगा। पुलिस 'शक करके ही मामलों की खोज में जुटती है और आपराधी तक पहुँच जाती है। यदि वह विश्वास करके चले, जो जैसा कहे या प्रदर्शित करे उसे ही सत्य मान ले तो वह अपराधों की योजना का पर्दाफाश करने और अपराधियों को पकड़ने में कभी सफल नहीं हो। निश्चय ही उसकी इस तरह की छानबीन में कई बारा निरापराध अथवा सज्जन व्यक्तियों को भी संकट में पड़ना पड़ता है तथापि उस स्थिति को टाला भी नहीं जा सकता। इसी प्रकार हो सकता है कि साधक भी यदि शंकित रहता है और बहुत सोच-समझकर कदम रखता है तो कभी किन्हीं स्थितियों में भ्रमित हो जाये बात अलग है। अधिकांशतः साधना के मार्ग में भ्रमों से पूर्णतः बचा जा सकता है। यदि मन शुद्ध है, दृष्टि निरपेक्ष, लक्ष्य स्पष्ट तो सफलता मिलनी निश्चित है। यह सफलता ही तो इष्ट होती है, जिसका कोई भी मूल्य कम नहीं क्योंकि वह अपने अस्तित्व से परिचित करा देती है।

दि. 29.09.96



संबुद्धह किं न बुद्धह ?

श्री सुपाश्वर्जिन वंदिए, सुख सम्पत्ति नो हेतु ललना ।
शान्त सुधा रस जल निधि, भवसागर मा सेतु ललना ।
असंखयं जीविय मा पमायए, जरोवणीयस्य हु णथि ताणं ।

उत्तराध्ययन सूत्र 4/1

कुंभकार मिट्टी के लौंदे से घड़ा बनाता है। चाक पर लौंदे को चढ़ाकर जब चाक को घुमाया जाता है तब ही वह घड़े काआकार ले पाता है। आकार बन जाने के पश्चात् भी कुंभकार संतुष्ट होकर नहीं बैठ पाता, बल्कि आगे की प्रक्रिया भी जारी रखता है। यह आगे की प्रक्रिया यदि न की जाये तो वह घड़ा असंस्कारित रह जाता है, वह टूट-फूट सकता है। वह घड़ा सहसा टूटे-फूटे नहीं इसलिए घड़े को आवे में रखकर आग में पकाता है, संस्कारित करता है। यह संस्कारित करने की क्रिया ही सबसे महत्त्वपूर्ण है। यही कार्य सबसे कठिन भी तथा सबसे अधिक कष्टकारक भी है। परन्तु इसके बिना न जीवन संवरता है, न उसके लक्ष्य की ओर ही उन्मुख हुआ जा सकता है। इसलिए प्रभु महावीर ने भव्य प्राणियों को सम्बोधित कर कहा था- ‘असंखयं जीविय’ जीवन असंस्कारित है। जब तक मिट्टी के घड़े को आग में नहीं पकाया जाता वह असंस्कारित है। न जाने वह किस समय फूट जाये। इसलिए ‘मा पमायए’ प्रमाद मत करो। कितना गहरा सूत्र है। असंस्कारित किस रूप में है ? अभी जो आयुकर्म के दलिक हैं अर्थात् वर्तमान में जितनी आयु

लेकर आये हैं उसमें अनेक उपधात लग सकते हैं, उपधात लग न जाये इसलिए प्रमाद मत करो। क्योंकि प्रमाद का कोई भी क्षण या झटका आयु की डोरी को तोड़ सकता है, जीवन समाप्त हो सकता है। जब शरीर छूट जायेगा, आत्मा विदा हो जायेगी तब क्या कर पाओगे ? कैसा जीवन है ? कितना परिभ्रमण करने के बाद मनुष्य जीवन उपलब्ध हुआ है। इसलिए प्रमाद मत करो।

जरोवणीयस्य हु णत्थि ताणं ।

तुम्हारी आयु के क्षण तुम्हें निरन्तर बुढ़ापे के नजदीक पहुँचा रहे हैं, जरा के उपनीत अर्थात् नजदीक ले जा रहे हैं। दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि बुढ़ापे के माध्यम से मृत्यु के निकट ले जा रहे हैं, वहाँ कोई रक्षा करने वाला नहीं रहेगा। क्या ऐसा हो सकता है कि कोई चिकित्सक मिल जाये जो बुढ़ापे से रक्षा कर ले, दवा आदि के सेवन से बुढ़ापा न आये ? तीर्थकरों का इतिहास देखें, उनके शरीर में कभी बुढ़ापा नहीं आता, वे वृद्ध नहीं होते। वैसे वे अतिवृद्ध हैं ज्ञान की दृष्टि से, शरीर से नहीं। चक्रवर्ती वासुदेव भी वृद्धावस्था में पहुँचे हों ऐसा कहीं नहीं बताया गया है। हमें ढूँढ़ना होगा कि इसका क्या कारण है ? उनका भी शरीर औदारिक पुद्गलों से निर्मित होता है, वैक्रिय और आहारक शरीर नहीं और हमारा भी औदारिक शरीर है। इसका कारण यह बताया गया है कि हमारा जीवन असंस्कारित है, संस्कारित नहीं है। प्रश्न होता है, इसे संस्कारित कैसे करें ? आचारांग सूत्र में जीवन को संस्कारित करने के अनेक सूत्र भरे पड़े हैं, पर हम उन सूत्रों का न समीचीन न अर्थ कर पाते हैं, न जीवन के साथ उनका संबंध जोड़ पाते हैं। ज्यादा से ज्यादा हम पारायण कर लेते हैं, स्वाध्याय कर लेते हैं, चिंतन-मनन कर लेते हैं। पर केवल चिन्तन-मनन से जीवन संस्कारित नहीं होता। संस्कार के लिए जैसे घड़े को आवा में पकाया जाता है, वैसे ही जीवन को तपाना होता है, साधना होता है।

असंस्कारित को संस्कारित कैसे करें ? व्यक्ति सोचता है कि व्रत, नियम, प्रत्याख्यान आदि इसीलिये तो हैं अन्यथा, इनकी क्या आवश्यकता है ? वस्तुतः ये व्रत, नियम, प्रत्याख्यान जीनव को संस्कारित करने वाले हैं। ‘ब्रतु संवरणे’ व्रत आच्छादित करते हैं, ढँकते हैं। आत्मा कर्मों से आच्छादित है और यदि व्रत भी आच्छादित करते हैं तो व्रत, नियम, प्रत्याख्यान आत्मा के लिए लाभदायी कैसे हुए ? इस बात को किंचित् गंभीरता से समझें। किसी व्यक्ति ने तीर छोड़ा या भाला फेंका तो वह व्यक्ति के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है परन्तु एक ढाल होती है व्यक्ति के हाथ में, जिसे बचाव के लिए प्रयोग में लाया जाता है।

कर्मों का जो बंध है वह आच्छादन के रूप में नहीं है, बल्कि वे कर्म पुद्गल आत्मा के साथ एकमेक रूप में जुड़े हुए हैं, आत्मप्रदेशों के साथ घुल-मिल गए हैं और उनसे आत्मा मलिन है। ये तीर या भाले रूप में प्रविष्ट हुए हैं। व्रत ढाल के रूप में है। वर्षा हो रही है और व्यक्ति ने सारे शरीर को बरसाती से ढँक लिया हो तो उसका शरीर भीगेगा नहीं, बरसाती भीगेगी।

यदि छतरी से ढँक लिया तो धूप से रक्षा हो जायेगी, वैसे ही व्रत, नियम, प्रत्याख्यान चाहे वे छोटे-छोटे ही हों पर वे हमारे जीवन को संस्कारित करने वाले हैं, संवृत्त करने वाले हैं। अर्थात् ये एक प्रकार से आत्मा का ‘कवर’ बनकर उसकी रक्षा करते हैं, जैसे बरसाती। व्रत इसलिये है कि बाहर से आने वाले पदार्थ आत्मा में प्रविष्ट न हों, परन्तु जो पहले प्रविष्ट पा चुके हैं व्रत उन्हें दूर नहीं कर सकते हैं। उसके लिये तप की बात कही गई है-

अहिंसा संज्ञमो तवो

‘आत्मा अहिंसा, संयम प्राण और तप शरीर है।’ इस त्रिपुटी में जिस समय हम संयुक्त होंगे, धर्म का स्वरूप हमें उजागर होगा। ये व्रत, नियम, प्रत्याख्यान संस्कारित करने वाले हैं, इसलिये इनसे संस्कारित व्यक्ति

सहसा मृत्यु के निकट नहीं पहुँचेगा और यदि पहुँच भी गया तो भी उसके हृदय में यह पीड़ा नहीं होगी कि मैं असंस्कारित रूप में आया था और उसी रूप में रवाना हो रहा हूँ। इसलिये प्रमाद मत करो, जीवन को संस्कारित करो।

एक शिष्य भिक्षाचर्या करके लौटा। विधान है कि वह जो कुछ गोचरी में लाये वह गुरु के समाने प्रस्तुत करे। शिष्य भी गुरुचरणों में पहुँचा। एक-एक पात्र खोलकर गुरु के सामने रख दिये कि मैंने अमुक-अमुक पदार्थ प्राप्त किए हैं। गुरु ने पूछा क्या कारण है कि आज तुम्हें विलम्ब हो गया। उत्तर मिला- गुरुदेव, मैंने एक घर में भिक्षा के लिए प्रवेश किया। बहन की दृढ़ भावना, श्रद्धा देखी, उसने भावपूर्वक एक मोदक बहराया। जिस समय बहराया जा रहा था लड्डू की सुवास नाक तक पहुँची। रसना का भी संयोजन हो गया। मन में विचार हुआ लड्डु एक मिला है, एक लड्डू तो गुरु को धामने का हो गया। गुरु ने लिया तो मैं तो कोरा का कोरा रह जाऊँगा। साधु की मर्यादा होती है वह रोटी छाछ, पानी आदि तो माँग सकता है, पर दूध, दही, धी, मिठाई आदि सरस पदार्थ नहीं माँग सकता। यदि शारीरिक कारण हो तो अन्य पदार्थ अपवाद रूप में माँग सकता है, पर सामान्यतः गरिष्ठ पदार्थों की माँग नहीं होनी चाहिए।

शिष्य ने आगे की बात बताई- ‘गुरुदेव ! मैं दूसरा लड्डू माँग नहीं सकता था, इसलिये घर से बाहर निकला, दीवार की ओट मैं जाकर वैक्रिय शरीर से रूप बदलकर बाल मुनि का रूप बनाया और घर में प्रवेश किया। बहन ने पुनः एक मोदक बहराया। फिर विचार किया कि यह दूसरा लड्डू भी साथी संतों में थोड़ा-थोड़ा देने पर पूरा हो जायेगा। मुझे तो नहीं मिल पायेगा। फिर बाहर आकर वैक्रिय क्रिया से वृद्ध का रूप बनाया और तीसरा लड्डू प्राप्त किया। इस प्रक्रिया के कारण मुझे विलम्ब हो गया।’

गुरु ने कहा- जैसा तुम जानते हो कि लड्डू की माँग नहीं करनी

चाहिये थी, वैसे ही श्रमण को भिक्षावृत्ति के लिये वैक्रिय लब्धि का प्रयोग भी नहीं करना चाहिये। उसे तो वैसे भी लब्धि का प्रयोग नहीं करना चाहिये। यदि संघ रक्षा आदि के विशेष कारण से विष्णुकुमारमुनि की तरह प्रयोग किया भी तो वह क्षम्य नहीं है। उसका भी आलोचना, प्रायश्चित्त आदि से शुद्धिकरण करना होता है। तुमने भी लब्धि का प्रयोग किया है अतः आलोचना-प्रायश्चित्त से शुद्धिकरण कर लो। लब्धि प्रयोग के बाद यदि आलोचना नहीं की तो जीवन सुरक्षित नहीं रह पायेगा और वैसा व्यक्ति आराधक नहीं रह पायेगा। शिष्य ने कहा- गुरुदेव आश्चर्य ! मुझे एक कला सिद्ध है और यदि मैंने उस कला प्रदर्शन से लड्डू प्राप्त किये तो ऐसी कौन-सी गलती की बात हो गई ?

गुरु ने उत्तर दिया- वत्स ! वह कला तो होगी, पर यदि वह उपादेय नहीं हुई तो घातक भी हो सकती है। श्रमण जीवन में उसका प्रयोग उचित नहीं है। शिष्य ने कह दिया गुरुदेव मैं आलोचना, प्रायश्चित्त नहीं करूँगा और जहाँ कला का सम्मान नहीं वहाँ मैं नहीं रह सकता। जहाँ मेरी कला का सम्मान होगा वहाँ जाऊँगा। जब वह जाने लगा तब गुरु ने कहा- ‘वत्स देखो, यह संयम-जीवन महान् पुण्य से प्राप्त होता है। कला प्रदर्शन के पीछे इसे नहीं छोड़ देना चाहिए। लेकिन यदि जा ही रहे हो तो मैं जानना चाहता हूँ कि कहाँ जाओगे। शिष्य सरल परिणामी भी था, कह दिया-

“गुरुदेव ! एक नट मण्डली है, जिसने कई बार आग्रह भी किया है। वे मेरी कला का सम्मान करते हैं और वे बहनें तो यहाँ तक कहने लगी हैं कि हम आपके चरणों की दासी हैं। अनुयय, विनय भी करने लगीं कि हमें छोड़कर मत जाओ। पर मैं चला आया। पर यहाँ कला की पूछ नहीं है अतः मैं यहाँ रह नहीं सकता।”

गुरु ने कहा- वत्स जा रहे हो तो एक बात मेरी भी मान लो। तुमने व्रतों की बरसाती को स्वीकार किया था ताकि बाहर का पानी आत्मा को मलिन न कर दे। अब तुम उसे हटाना चाहते हो, असंस्कारित, प्रमत्त

जीवन में जाना चाहते हो तो सुनो, इतने समय तक मेरी बातें मानी तो एक बात जाते-जाते और सुन लो।” शिष्य ने भी सोचा- रोक तो नहीं रहे हैं, बांधकर रखा भी नहीं जा सकता। मैंने पहले ही कहा है कि यह शरीर तो मिट्टी के घड़े के समान है न जाने किस समय फूट जाये। प्रमाद से जीवन गर्त में गिर सकता है। हिंसा में, प्रमाद में, जीवन व्यतीत करने वाले के समझो कि प्राण नहीं है। यदि अप्रमत्त बन गये तो जीवन की सुरक्षा हो सकती है। गुरु में कहा- “जा रहे हो, लेकिन जहाँ मध्य और मांस का सेवन होता हो वहाँ अपने आपको संयुक्त मत करना अन्यथा तुम्हारी प्रज्ञा कुंठित हो जायेगी। मांस वस्तुतः मनुष्य का भोजन ही नहीं है, पर जब उसे ग्रहण कर लिया जाता है तो अनेक विजातीय तत्व शरीर में पहुँच जाते हैं। फलतः बीमारियाँ पनपती हैं, बुद्धि मंद होती है। शाकाहारी भोजन स्फूर्ति प्रदान करने वाला तथा बौद्धिक विकास में सहायक होता है, जबकि मांसाहार विचारों को गलत बनाता है तथा बुद्धि में विकार, उत्तेजना आदि उत्पन्न करता है। इसलिए तुम्हें वहाँ नहीं जाना है। मदिरा भी ग्रन्थियों पर अपना कुप्रभाव डालती है परिणामस्वरूप बौद्धिक क्षमता का हास होता है। जहाँ इन दोनों का सेवन होता है, वहाँ मत रहना।

शिष्य ने बात मान ली और चला गया। बहनों ने साधु को आये हुए देखा। उसने भी कहा- तुम्हारी भावना के अनुसार मैं रहने आ गया हूँ, पर मेरी एक शर्त है कि इस घर में मांस-मदिरा का सेवन नहीं होना चाहिए। उन्होंने भी स्वीकृति दे दी और नट भी मान गया। समय बीतता रहा, उसके पास वैक्रिय लब्धि तो थी ही, नट मण्डली में शरीक हो जाने से बहुत सम्पत्ति इकट्ठी होने लगी। आय का जरिया बढ़ गया। अब वह मुनि नहीं गृहस्थ था। यह सब कर्मों का खेल है। जो व्यक्ति सुबह राजा बनकर हाथी पर बैठे वह शाम को रंक बन सकता है। सूर्योदय के समय तुर्य बज रहे थे, राम को राजा बनाया जायेगा। राम आशीर्वाद लेने राजा दशरथ के पास गये और वहाँ राजा बनने के बजाय वनवास हो गया।

आप सुनते रहते हैं और देखते भी रहते हैं कि कैसे करोड़पति रोड़पति हो जाता है और रोड़पति करोड़पति । ये तो चकडोलर हैं । कर्म का झूला कभी गिराता है कभी उठाता है पर यदि व्यक्ति पुरुषार्थ हेतु सजग हो, अप्रमत्त हो तो बच सकता है । अस्तु, समय सरकता चला गया ।

एक दिन जब वह नाटक दिखाने जाने लगा तो बहनों से कहा-
आज मैं रात्रि को लौट नहीं सकूंगा । वह तो चला गया । बहनों ने सोचा बहुत दिन हो गए हैं, आज वे लौटेंगे नहीं अतः क्यों न मन की मुराद पूरी कर लें । पिता से कहा- हमारे लिए मांस-मध्य की व्यवस्था कर दो । पिता ने कहा- यह ठीक नहीं है, यदि उसे ज्ञात हो गया तो वह यहाँ नहीं रहेगा, चला जायेगा । वह हमारी आमदनी का जरिया है । पर बहनों ने बात नहीं मानी, मांस का सेवन किया, जमकर शराब पी और बेसुध होकर सो गई । संयोग की बात, उधर युवक का मन नाटक में नहीं लगा । उसने कहा-
आज विधि हो नहीं पा रही है । कार्यक्रम स्थगित किया जाता है और वह लौट आया । वहाँ का दृश्य देखा- मुँह भरे पड़े थे, मक्खियाँ भिनभिना रही थीं, बदू आ रही थीं । ऐसा भयंकर दृश्य देखकर वह चौंक पड़ा । गुरुदेव ने कहा था-

संबुद्धह किं न बुद्धह ?
संबोही खलु पेच्च दुल्लहा ॥

सूत्रकृतांग 1/2/1/1

उसकी आत्मा अन्तर्नाद कर उठी । हे आत्मन् ! अब तो संबोध प्राप्त करो ! तत्काल कन्याओं को जगाया, तुमने मेरी शर्त भंग की अब मैं नहीं रहूँगा, मैं गुरुचरणों में पहुँचकर आलोचना, निन्दा, गर्हा से शुद्धिकरण करूँगा । बहनों ने कहा- प्रियतम ! हमारी भूल हुई है, हमें एक बार क्षमा कर दो । उत्तर मिला- नहीं मैं अटल हूँ, किसी हालत में प्रतिज्ञा नहीं तोड़ूँगा । काफी अनुनय, विनय की गई । पर वह नहीं माना अंत में निर्णय किया- आप जाना ही चाहते हैं तो हमारी एक बात मान लें ।

हमारी अर्थव्यस्था कर जायें अन्यथा हमारा जीवन निर्वाह कैसे होगा ? उसने भी सोचा बात सही है। एक नाटक दिखाकर जो भी धन राशि प्राप्त होगी इन्हें सौंप दूँगा फिर गुरुचरणों में जाकर आलोचना, प्रतिक्रमण से शुद्धिकरण करूँगा। जीवन व्यवस्थित करने की भावना जाग गई थी, पर बीच की व्यवस्था भी करनी थी।

राज-दरबार में पहुँचा और नाटक प्रारंभ किया। भरत सम्राट के जन्म, शैशव, बाल्यावस्था, युवावस्था, विवाह, चक्ररत्न की उत्पत्ति और छः खण्ड की साधना का सारा दृश्य क्रमशः दिखा दिया। वैक्रिय लब्धि से छः खण्डों की साधना भी दिखा दी। वैक्रिय लब्धि से यह सब संभव है। उसने एक पार्ट प्रारंभ किया- आरिसा भवन की रचना की, शीश महल में प्रविष्ट हुआ, निरीक्षण करते हुए अंगुली से अंगूठी नीचे गिर पड़ी। खनखनाहट हुई, आवाज गूँजी; उस द्रव्यमुनि के जिसने पूर्व में मुनि जीवन में प्रवेश किया था, भीतर से चिंगारियाँ उठने लगी। अरे ! तुम राजऋषि भरत का पार्ट अदा कर रहे हो। आरिसा भवन का दृश्य, कहाँ तुम जैसा नीच, पापी, हाथी से गधे की सवारी पर आने वाला, वमन करके पुनः चाटने वाला और उस वीर पुरुष का नाटक ! तुम अभिनय कर रहे हो, पर क्या तुम्हें वह कैवल्यज्ञान मिल सकता है ? भीतर ही भीतर आलोचना, निन्दा, गर्हा के भाव उभरे। चिन्तन प्रगाढ़ बना, उज्ज्वल भावना उभरी, भरत का अभिनय था, पर यथार्थ हो गया। कैवल्यज्योति प्राप्त हो गई। भरत के समय जो आदर्श महल था। यहाँ भले ही वह नहीं था, नकली महल था, पर चिंतन की धारा बनी तो हृदय-शुद्धि हो गई। भले गुरुचरणों में नहीं पहुँचा, पर आलोचना, निन्दा, प्रतिक्रमण की ललक स्फुटित हो चुकी थी। उसी अप्रमत्त भाव से आगे बढ़ गया। भावना का निर्माण हुआ, रक्षा हो गई, संस्कारित हो गया। पूर्व संस्कार और एक प्रतिज्ञा गुरु की भीतर के कीटाणुओं को नष्ट करने में कामयाब हो गई। यदि एक प्रतिज्ञा का भी दृढ़ता से पालन किया जाये तो भी ये कीटाणु कुछ बिगाढ़ नहीं कर सकते। जीवन में वह बात घटित

हो गई जिसकी आशा भी नहीं थी। यह घटना इस बात का प्रमाण है कि जीवन के संस्कारित होने के लिए अप्रमत्त भाव की श्रृंखला, छोटा-सा व्रत और प्रत्याख्यान भी महती भूमिका का निर्वाह करते हैं।

सम्राट श्रेणिक को प्रभु ने बताया था कि शुद्ध मन से की गई एक नवकारसी भी तुम्हारी नरक टाल सकती है। एक नवकारसी में इतना सामर्थ्य है कि वह असंयम की आँधियों के कितने ही दलिकों को नष्ट कर सकती है। प्रभु ने साधक के लिए तीन करण, तीन योग से महाव्रतों की बात कही। श्रावक यदि महाव्रतों को धारण नहीं कर सकता तो उसके लिए पाँच अपुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत-रूप बारह व्रतों का विधान किया गया है। यदि वह इन बारह व्रतों की बरसाती ओढ़ ले तो भी आत्मा का बचाव हो सकता है। यदि व्यक्ति व्रतों में आबद्ध नहीं है तो स्वयंभूरमण समुद्र, जो कि आधे राजू में फैला है, उसके पानी जितना पाप आत्मा में जुड़ता चला जाता है। परन्तु व्रतों की परिधि में आने पर वह पाप घटकर एक घड़े के परिमाण भर का रह जाता है। तब आत्मा सुरक्षित हो जाती है। प्रभु का यह निर्देश ऐसा उपदेश है जो सभी के लिए उपादेय है। साधक इसे स्वीकार करे तभी वह ज्योति की ओर प्रयाण कर पायेगा। श्रद्धा के साथ व्रतों को स्वीकार कर दृढ़ता से उनका पालन करने पर आत्मज्योति प्रज्ज्वलित होगी। अतः सजगता, सावधानी और विवेक के साथ आगे बढ़ना है। बस यदि आप इतना भी कर सकेंगे तो जीवन में आने वाली विपदायें तो टल ही जायेंगी, आत्मस्वरूप की प्राप्ति हेतु आधार भूमि का निर्माण भी हो जायेगा। फिर यह साधक पर निर्भर करेगा कि वह उस पर कितने भव्य भवन की रचना करता है।

दि. 30.09.96



शुद्ध चेतना और आत्मदर्शन

देखन दे सखी म्होने देखन दे ।
चन्द्र प्रभु मुखचंद, सखी म्होने देखन दे ॥

प्रभु महावीर ने भव्य आत्माओं के कल्याणार्थ जो देशना फरमाई है कि ‘असंख्य जीविय मा पमायए’ अर्थात् जीवन असंस्कारित है इसलिए प्रमाद मत करो । तब क्या जिसका जीवन असंस्कारित नहीं रहा संस्कारित हो गया है, वह प्रमाद करे तो कोई एतराज नहीं ? केवल असंस्कृत जीवन वालों को ही प्रमाद नहीं करना है ? जिसमें संस्कार आ गए हैं वह तो प्रमाद कर सकता है । तर्क अपने स्थान पर सही है । किन्तु इसका अर्थ यह भी बनता है कि जो संस्कारित है वह प्रमाद करता ही नहीं । इस मायने को संस्कारी किसे कहा जाये ? जो मात्र स्कूलों में, पुस्तकों में पढ़कर संस्कार की बातें सीखकर चल रहा है उसे यहाँ संस्कारी नहीं माना है । अपितु यहाँ गहन अर्थों में संस्कारी माना गया । वह यह कि जो स्वयं को जानने वाला है ।

अतिमुक्त कुमार ने अपनी माता से कहा था- ‘जो जानता हूँ वह नहीं जानता । यह जो जान लेता है वह है संस्कारी जीवन जीने वाला । क्योंकि वह जान लेता है कि मैं कौन हूँ ? मेरा क्या स्वरूप है ? मैं कहाँ से आया हूँ ? कहाँ जाना है ? यह ज्ञान जिसे हो जाए वह है संस्कारी । यह ज्ञान केवल किताबों से प्राप्त नहीं होगा बल्कि अन्तःस्फूर्त होगा । स्वयं पैदा होगा । चाहे गुरु के उपदेश से ही क्योंकि न हो, पर भीतर में पैदा होगा और ऐसे संस्कारी जीवन वाला व्यक्ति प्रमाद में गमन नहीं

करेगा। वह निरन्तर शुद्ध अध्यवसायों में रमण करेगा। इस दृष्टि से साधु के भी दो भेद दिए गए हैं- प्रमादी साधु और अप्रमादी साधु। पुनः प्रमादी के शुभ योग पड़ुच्चे और अशुभ योग पड़ुच्चे के रूप में दो और भेद किए गए हैं। इसमें जो शुभ योग वाला है वह अप्रमत्त के उपपात में है।

भगवती सूत्र के अनुसार भगवान महावीर स्वामी से गौतम ने पृच्छा की ‘हे भगवन् ! यह जीवन आत्मारंभी है, परारंभी है, तदुभयारंभी है या अनारंभी है ? आत्मा की हिंसा, दूसरों की हिंसा या उभय आत्मा एवं दूसरों की हिंसा करने वाला है या अनारंभी है ? लम्बी पृच्छा है। वहाँ पर अप्रमत्त को अनारंभी कहा है, किसी प्रकार आरंभ करने वाला नहीं माना है। इसी प्रकार प्रमादी के जो दो भेद हैं- शुभयोग वाला और अशुभ योग वाला, उनमें शुभ योग वाले को अनारंभी माना है। अशुभ योग वाले को आत्मारंभी, परारंभी तथा तदुभयारंभी कहा गया है, किन्तु अनारंभी नहीं। यहाँ जिस प्रमाद की बात कही गई है वह है अशुभ योग में जो जीवन जीया जा रहा है, वह असंस्कारी जीवन है। ऐसे जीवन वाला यदि निरन्तर प्रमाद में पड़ा रहा तो वह चंद्रप्रभु भगवान के मुखचंद्र को देख नहीं पाएगा। कवि आनन्दघनजी के मन में यह चाह एक पुकार के रूप में प्रकट हुई है- देखन दे सखी म्होने देखन दे....।

क्या आनन्दघनजी स्त्री हैं जो उनके सखी होगी या उनके पास कोई सहेली बैठी है ? वे किसे पुकार रहे हैं ? हमारे भीतर एक अशुद्ध चेतना है और एक शुद्ध चेतना है। योग की अपेक्षा से जैसे शुभ योग अशुभ योग के भेद किए गए हैं, वैसे ही चेतना के भी ये दो भेद किए गए हैं- शुद्ध चेतना और अशुद्ध चेतना। बहुत काल से अशुद्ध चेतना ने चंद्रप्रभु रूप आत्मा को दबोच रखा है। उस पर आवरण डाल रखा है। जैसे एक पति की दो पत्नियाँ हों, जिनमें एक पत्नी ऐसी हो जिसने अपने हाव-भाव से, रंग-ढ़ग से पति को अपने आसक्त कर रखा हो और पति भी उसी में ऐसा रमासमा हो कि दूसरी पत्नी की ओर देखता भी नहीं। ऐसी स्थिति होने पर वह दूसरी पत्नी विचार करती है कि यदि मैं पुकारने

जाऊँगी तो निश्चित नहीं कि सहसा वह मेरी बात सुने, वह मेरी सौत या बहन मुझे पहुँचने भी नहीं देगी, न आवाज को उन तक जाने देगी। इसलिए अच्छा है कि उस सौत को समझाये। जिस समय उसका मूड बिगड़ा हुआ होता है उस समय वह उससे कुछ नहीं कहती, पर जब देखती है कि उसका मूड अनुकूल है तब वह शुद्ध चेतना अपनी सौत अशुद्ध चेतना से कहती है- सखी म्होने देखन दे।

वह चन्द्रमा के समान शीतल, सौम्य रूप मुझे भी देखन दे। मैं पतिदेव के उस चन्द्रमुख को देखना चाहती हूँ। अनादिकाल से आत्मा इसी अशुद्ध चेतना में आबद्ध है। उसने आत्मापर पूरा-पूरा आवरण डाल रखा है। कबीर ने इसी अशुद्ध चेतना को महाठगिनी माया कहा है- ‘माया महाठगिनी हम ज्ञानी।’ इस कारण शुद्ध चेतना निकट नहीं आ पा रही है, यथा प्रवृत्तिकरण के पास जाकर भी लौट जाती है, पर किसी-किसी शुद्ध चेतना की पुकार अशुद्ध चेतना सुन लेती है। फिर वह अपूर्वकरण करते हुए राग-द्वेष की ग्रन्थि भेदकर दीवार गिरा देती है, दरवाजा खोल लेती है और चन्द्रप्रभु के समान शुद्ध चेतना के मुखचन्द्र के स्वरूप को देखने में सफल हो जाती है। सखी मुझे देखन दे, ‘देखन दे’ इसमें देखना क्रिया का प्रयोग बार-बार हुआ है। बार-बार प्रयोग से यहाँ पुनरुक्ति दोष भी कहा जा सकता है। पर यहाँ यह दोष नहीं है बल्कि अंतर के प्यास की तीव्र उल्कंठ को झलकाया गया है। इसलिए बार-बार प्रयोग किया गया है। एक व्यक्ति जो प्यासा है उसे केवल प्यास ही दिखाई देगी और यही कहेगा- ‘पानी दो, पानी दो। वह धन या पद की याचना नहीं करेगा। उसके सामने जीवन-मरण का प्रश्न होता है और रक्षा का सूत्र है कि पानी मिल जाये ताकि जीवन बच जाये। जीवन बच जायेगा तो आगे की सारी स्थिति व्यवस्थित हो जायेगी। इस प्रकार प्यासे को जैसे एक मात्र पानी की चाह रहती है वैसे ही शुद्ध चेतना की एक मात्र अभीप्सा होती है कि वह चन्द्रप्रभु के मुखचन्द्र को देख ले। पर ये असंस्कार या अशुद्ध चेतना यदि जीवन में है तो उसका स्वभाव ही है

प्रमाद में लिप्त करने का। उसे ही प्रभु ने संबोधित किया है और संबोधित करते हुए कहा कि चेतना के शुद्ध स्वरूप तक यदि पहुँचना है तो प्रमाद मत करो क्योंकि पहले ही जीवन असंस्कृत है। अतः उसके साथ प्रमाद को मत जोड़ो क्योंकि यदि ध्यान नहीं रखा गया और यदि अविवेक के साथ अज्ञान जुड़ता गया तो वैसी ही स्थिति होगी जैसे वानरी को शराब मिला देने पर उसकी होती है या बंदर को यदि बिछु काट ले तो उसकी हो जाती है। बन्दर तो पहले स्वभाव से ही चंचल होता है, शांत नहीं बैठता। कभी इधर-कभी उधर, कभी ऊपर कभी नीचे उछल-कूद करता रहता है, एक जगह नहीं टिकता इसलिए मन को भी बन्दर की उपमा देना उचित है- ‘म्हारो मन बांदरो रे।’

जैसे बन्दर तो पहले स्वभाव से ही चंचल फिर उसे शराब पिला दी जाये और उस पर यदि उसे बिछु काट ले तो फिर उसकी उछल-कूद की सीमा ही नहीं रहेगी। वैसे ही प्रभु ने कहा है कि पहले ही जीवन असंस्कारित है फिर उसे प्रमाद की शराब पिला दी जाये और उस पर सांसारिक आकर्षण उसे बांध ले तो फिर वह इतना बेसुध हो जायेगा कि वह अपनी स्थिति को देख ही नहीं पाएगा। फिर तो वही हालत होगी-

अंधेर नगरी, चौपट राजा ।
टके सेर भाजी, टके सेर खाजा ॥

सभी एक ही दाम में उतरते चले जायेंगे। काशी नगरी अत्यंत प्राचीन है। एक समय वहाँ ब्रह्मदत्त नामक राजा राज्य कर रहा था। राजा बहुत कंजूस था। वैसे राजा कंसूस कम ही होते हैं, पर उस राजा की वणिक बुद्धि ज्यादा चलती थी। वह सोचता जैसे भी हो दो पैसे बचाये जाये। चाहे उसके पीछे दो घंटे क्यों न खराब हो जाये। पर आज युग बदल रहा है, आज समय की कद्र की जाती है। आज यदि कोई व्यक्ति दुकान पर ज्यादा मोल-भाव करे तो दुकानदार कह देता है- आप दूसरी दुकान देख लो। पर एक जमाना था कि यदि कहा जाता 20 रुपये की वस्तु है तो 8, 10, 14 रुपये करके मोल-भाव किया जाता था। कबीर ने

एक पगड़ी बनाई और उसमें खर्च छह रुपये लगे। वे उसे बेचने पहुँचे, ग्राहक आते और पूछते पगड़ी का दाम, कबीर ने कहा- छः रुपये। ग्राहक ने कहा- तीन रुपये ले लो, चार रुपये ले लो। पर कबीर ने कहा- खर्च छह रुपये लगा है अतः कम में तो नहीं बेच सकता। शाम तक बैठे रहे, लेकिन पगड़ी बिकी नहीं। कबीर ने सोचा कोई कला का पारखी नहीं। उसमें दो-चार पैसे ही बचने वाले थे आज वह भी कमाई नहीं हुई। पुत्री ने देखा तो पूछा-अब्बाजान क्या हुआ ? उत्तर मिला- क्या बताऊँ, आज इस पगड़ी में मात्र दो-चार पैसे बचने वाले थे, फिर भी वह बिकी नहीं। पुत्री ने कहा- लाओ मुझे दे दो। वह बाजार में पहुँची। व्यापारी ग्राहक निकल रहे थे। लोगों ने पूछा क्या है ? एक पगड़ी है। कीमत क्या है ? अरे आपसे क्या मोल करूँ, दूसरे से तो चाहे कुछ लूँ पर आपसे तो परिवार का सम्बन्ध भी है। सिर्फ 12 रुपये में ही दे दूँगी। ग्राहक ने कहा- 8 रुपये ले लो। उत्तर मिला- मैं तो पहले ही कम कीमत बता रही हूँ। अच्छा तो 9 रुपये ले लो उसने पगड़ी थमाई, 9 रुपये लिए और जाकर कबीर को 9 रुपये थमाये। कबीर ने तो उसी समय दोहा बना लिया। इतना असंस्कारित जीवन कि चीज भी नहीं देखते और फिर चतुराई दिखाते हैं कि 12 रुपये की वस्तु 9 रुपये में ले आया। पर वस्तुतः 12 रुपये की 9 में लाया या 6 की 9 रुपये में लाया था। मोल करके ग्राहक खुश होता है कि आज 3 रुपये की रहम कर दी और मुझे 12 रुपये की वस्तु 9 रुपये में ही मिल गई। पर आज वह मोलाई की स्थिति नहीं रही।

मैं बतला रहा था राजा ब्रह्मदत्त की बात। उसने अलग-अलग पदों पर अलग-अलग व्यक्तियों को नियुक्त कर रखा था और जिधर जैसी कस लगाई जा सकती थी वैसी कस लगवाता। उसने एक क्रय-अधिकारी नियुक्त कर रखा था, जिसका कार्य था कि व्यापारी जो भी चीज लाता वह उसका मूल्य आँकता और पर्ची बनाकर दे दी जाती। तत्पश्चात् भंडारी उसका भुगतान कर देता। रजा का विचार बना कि क्रय-अधिकारी

मूल्य अधिक लगा देता है अतः नया व्यक्ति नियुक्त किया जाये तो कुछ बचत कर सके। एक दिन वे महल में बैठे हुए गवाक्ष से देख रहे थे- एक माली कड़ी धूप में पौधों का सिंचन कर रहा था। पसीना चू रहा है, पर वह कार्य में दत्तचित्त था। राजा ने सोचा यह मेहनती है, यह व्यक्ति उस कार्य के लिए ठीक रहेगा। राजा के मन में बात आई बस फिर क्या देरी थी ? पूर्व अधिकारी को हटाया गया और नये व्यक्ति को रख लिया गया। जब भी कोई आता यह अधिकारी जो मूल्य आँक देता, उतने पैसे मिल जाते। गुड़ और गोबर एक भाव बिकने लगे। आखिर माली की क्या औकात, बेचारे ने साग-भाजी ही तो बेची थी। लाखों का रत्न भी आया तो भी वह दो-चार पैसे ही आँक पाता।

कितनी भी अच्छी वस्तु हो पर वह तो साग-भाजी, तरकारी का मूल्य अंकित कर देता। लोग परेशान हो गए, पर शिकायत भी किससे करें ? राजा का भय था, बोल नहीं पाते थे। एक बार उत्तराचंल से एक व्यापारी 500 घोड़े लेकर पहुँचा। क्रय अधिकारी को संकेत मिला और सारे घोड़ों का निरीक्षण कर 500 घोड़ों की कीमत आँकी- एक पंसेरी चावल। बेचारे सौदागर के पैरों तले भूमि खिसकने लगी, ये कैसे अधिकारी हैं ? 500 घोड़ों की कीमत 5 सेर चावल। क्या किय जाये ? देश भी नहीं लौट सकता था। वह पूर्व अधिकारी के पास गया, उससे भी उसका कई बार काम पड़ा था। उसने पूर्व अधिकारी से कहा- मार्ग सुझाइए, घोड़े भी चले गए 5 सेर चावल में। उसने कहा- आप अभी जो क्रय-अधिकारी है उससे 5 सेर चावल की कीमत पूछो। यदि वह राजसभा में कहे तो वहीं बात करना ठीक है। बात तय हो गई।

दूसरे दिन राज दरबार जुड़ा। राजा ने पूछा- आपने 500 घोड़ों की कीमत 5 सेर चावल कैसे आँकी ? उसे तो हिचकिचाहट भी नहीं थी। उसने कहा- घोड़ों के बदले एक पंसेरी चावल की कीमत कम नहीं है और कितनी कीमत हो सकती है ? राजा के प्रति प्रश्न किया- ये बतलाईए एक पंसेरी चावल की कीमत क्या हो सकती है ? उसने कहा- बस उतनी

ही जितनी की काशी राज्य और आस-पास के जितने भी राज्य हैं उन्हें बेचने से प्राप्त हो, वह कीमत होगी एक पंसेरी चावल की। लोग हँसने लगे, वाह-वाह कैसे क्रय अधिकारी हैं ? 500 घोड़ों की कीमत एक पंसेरी चावल। पर बोल नहीं पाए क्योंकि क्रय अधिकारी का भी एक ओहदा था, राजा भी विराजमान थे पर अन्दर ही अन्दर खुसर-पुसर होने लगी। विचार चल रहे थे इतने में ही पूर्व अधिकारी का प्रवेश हुआ। वह भी आज विशेष अनुमति से आ पहुँचा था। उसने कहा- राजन् इनकी बात एकदम ठीक है। जैसे कि इन्होंने कहा- एक पंसेरी चावल काशी के समीपस्थ राज्यों की कीमत का परिमाण है तो 500 घोड़ों की कीमत के अनुसार सौदागर को इन सारे राज्यों का अधिकार प्राप्त हो।

आपको भी बात समझ में आ गई होगी। यदि यह समझ में नहीं आयेगी तो कौन-सी बात समझ में आयेगी ? यदि सरकार एक कानून बनाएगी तो हम ‘बाय पास’ कर आगे बढ़ जायेंगे। ये जाते हुए मार्ग हैं, पर यह चतुराई चन्द्रप्रभु के दर्शन में काम नहीं आयेगी। वहाँ की प्रभु की दृष्टि में हमारा असंस्कारित जीवन होगा। यह चतुराई प्रभु दर्शन, आत्मदर्शन में सफल नहीं होने देगी। राजा ने उस अधिकारी को अधिकार दिया तो घोड़ों के बदले राज्य देने की नौबत आ गई। उसी समय उस व्यक्ति को नारियल पकड़ाया, तिलक लगाकर सीख दे दी। आपके पास भी यदि ऐसा मुनीम होगा तो क्या उसे टिकने देंगे ? आज तो कहा जायेगा- ‘यू कैन गो’ ! मार्ग खुला है, सीख भी नहीं देंगे।

बंधुओं ! जरा विचार कीजिए- प्रभु दर्शन के लिए कहीं हम भी तो क्रय अधिकारी बने हुए नहीं हैं कि 100, 200, 1000 रुपये खर्च करके प्रभु दर्शन कर लें। प्रभावना बँटा दी, चढ़ावा दिया कि हमें सबकुछ प्राप्त हो जाये पर इससे जीवन व्यवस्थित नहीं हो पायेगा। फिर साथ में प्रमाद का पुट मिल जाये तो स्थिति दयनीय हो जायेगी। दर्शन तो दूर, अशुद्ध चेतना को भी जान नहीं पायेंगे और शुद्ध चेतना तो बेचारी कोने में ही दुबकी पड़ी रहेगी, कोई पुकार सुनने वाला नहीं होगा। इसलिए जागिये,

समय मिला है। कवि तो बार-बार संबोधन दे रहा है- देखन दे चन्द्रप्रभु मुखचन्द, सखी म्होने देखन दे।

वे तो कह ही रहे हैं, हम भी अपनी उस चेतना को संबोधित करें। हे मेरी शुद्ध चेतना। मुझे बता मेरा पति, मेरा साहब कौन है ? जब से मैं उसे साथ हुई हूँ मैंने दर्शन नहीं किए हैं। सुना है उनका मुख उपशम रस का कंद है, वहाँ दुःख द्वंद्व नहीं रहते। पर दर्शन नहीं किये। आकाश में बादल छा जाये तो चन्द्र दिखाई नहीं देता। जब बादल हटे तो आशा हुई कि अब दर्शन होंगे। अब तक सुना ही है- उनका मुख सुन्दर है, पर अब मैं देखना चाहती हूँ कि उस आत्मा रूपी पुरुष का रूप कैसा है, स्वरूप कैसा है ? यदि एक बार देख लिया तो उसे अपने भीतर अवस्थित कर लूँगी। आज हम अनेक कल्पनाएँ करेंगे कि प्रभु ऐसे हैं वैसे हैं, पर एक बार प्रभु महावीर के दर्शन तो कर लें। हम ध्यान करते हैं तो ध्यान में कल्पना कर लेंगे- प्रभु महावीर ध्यान में लीन है, आस-पास झाड़ है, चंडकौशिक डंक मार रहा है। योगनिष्ठ कृष्ण के विषय में कल्पना कर लेंगे कि पीताम्बर धारण किए हुए हैं, मोर मुकुट है, आदि क्योंकि हमने फोटो में देखा है और जो देखा उसे ही मन में अवस्थित कर लिया है। पर क्या चित्रकार ने प्रभु को देखा था। उसने कल्पना कर ली थी और उसे ही चित्र में उकेर दिया। पर क्या हमने कभी भगवान को देखने की कोशिश की ? अपने भीतर के महावीर को देखा ? यदि एक बार देखकर हृदय में बैठा लिया तो फिर कभी भूलेंगे नहीं। कवि विनयचंदजी ने कहा है-

कबहुं न भूलूं हो चितारूँ नहीं, सदा अखंडित ध्यान।

कितनी गहरी बात है। यह सामान्य बात नहीं है। न कभी भूलूं और न कभी याद करूँ। आप अपने आप को कितनी बार याद करते हैं कि मेरा अमुक नाम है ? कोई भी अपने नाम को याद नहीं करता और उसे भूलता भी नहीं। यदि अभी किसी का नाम लेकर आवाज लगाई जाये तो तुरन्त वह सजग हो जायेगा, दूसरा तो सजग नहीं होगा। अपने नाम की माला भी नहीं फेरी। जैसे स्लेट पर अ, आ लिखकर रटते हैं वैसे रटा भी

नहीं, पर भूलते भी नहीं। वह स्थायी रूप से हृदय में बस गया है। ऐसे ही हमारे भीतर परमात्मा की छवि उतर जाये, यदि आप उसे बार-बार याद करते रहें तो इसका मतलब है आप भूल गए हैं। आप पूछेंगे तो क्या याद नहीं करें ? माला नहीं फेरें ? माला तो फेरनी है इसलिए कि वह जग जाए। मान लीजिये कि आप सागरमलजी हैं, आप सोये हुए हैं और कोई आपको जगाना चाहता है, तो वह तब तक आवाज लगाएगा जब तक आप जग न जाये। हमें भी भीतर के महावीर को जगाना है। घड़ा भरना है, ऊपर से एक-एक बूँद गिर रही है। घड़ा सौंखता चला जा रहा है परन्तु आपको भरना जरूरी है तो आप ऊपर धार चालु रखेंगे या नहीं ? हम भीतर के महावीर को जगाने के लिए आवाज लगाते हैं ताकि उसकी नींद खुल जाये। उन त्रिशलानंदन को जगाने की जरूरत नहीं वे तो जागे हुए हैं, उन्हें पुकारने की जरूरत नहीं वे सब जानते हैं। उनकी ही तरह हमारी आत्मा है, इसे जगाना है। कवि एक बार उसे देखना चाह रहे हैं। उस प्रियतम के दर्शन को आतुर हैं।

एक बार पति-पत्नी में झगड़ा हो गया। पत्नी कह रही थी- आप दिनभर घर में बैठे रहते हो, दो पैसे कमाकर नहीं लाते गृहस्थी कैसे चलेगी ? बस इतना ही झगड़ा था। पति का उत्तर था- तू देखती रह, एक बार मुझे सरकारी नौकरी तो मिलने दे मैं तुझे सोने-चाँदी से मढ़ दूँगा।

राह से राजा गुजर रहा था। उसकी बात सुनी, विचार किया, यह कह रहा है तो परीक्षा भी कर लूँ। राजा ने उसे बुलवाया और सरकारी पद दे दिया। उसने पूछा- मुझे काम क्या करना होगा ? उत्तर मिला- और तो कुछ नहीं समुद्र के किनारे बैठकर लहरें गिननी हैं। उसने कहा- ठीक है। समुद्र तट पर जाकर बैठ गया। दूर से ही नाव स्टीमर, जहाज आ रहे थे। उसने संकेत कर दिया कि कोई इधर नहीं आ सकेगा। मुझे राजा के आदेश से लहरें गिननी हैं। जहाज इधर आ गये तो गणना में गड़बड़ी हो जायेगी। सभी परेशान हो गये। यदि समय पर नहीं पहुँचे तो जो अनुबन्ध किया हुआ है, एक दिन में सब गड़बड़ हो जायेगा। उन्होंने लेन-देन का

विषय रखा, मरता क्या न करता। उसने बोरी रख छोड़ी थी, उसमें लोग राशि डालते गये और संध्यातक तो बोरी इतनी भर गई कि सिलाई में भी मुश्किल हो गई। दबा-दबाकर मोहरें भर दिये और ले जाकर पत्नी के सामने बोरी डाल दी। राजा ने भी देखा सचमुच इसने तो कमला कर दिया। दूसरे दिन राजा ने उसे वहाँ से हटाया और अस्तबल में घोड़ों की रखवाली का काम सौंपा। वह पहुँच गया। अब किसी को भी घोड़ा लाने-ले जाने नहीं देता, कोई कुछ खिलाने आता तो मनाकर देता कि नहीं, घोड़ा बीमार हो जायेगा। एक-एक कर सभी व्यक्ति परेशान हो गये। आखिरकार उसकी जेब गरम होने लगी। शाम तक फिर बोरी भरने लगी। पत्नी से सारी बात कही, राजा ने भी सुन ली। विचार किया आदमी तो होशियार है। इसलिए ठीक कह रहा था कि एक बार पद मिल जाये, कुर्सी मिल जाये, फिर देखो।

इस कथा के निहितार्थ पर हम जरा ध्यान दें। उस आदमी ने पुरुषार्थ द्वारा कमाई का साधन निर्मित कर लिया- और यह सत्य है कि जो पुरुषार्थ करता है वह अपने मनोरथ सिद्ध कर लेता है। अब कठिनाई यह है कि व्यवसाय के क्षेत्र में पुरुषार्थ करने की मानसिकता तो लोगों की है, परन्तु साधना के क्षेत्र में पुरुषार्थ से लोग कतराते हैं। चाहते हैं कि वह सहज ही प्रसन्न होकर कृपा कर दें। साधना में पुरुषार्थ की प्रकृति और इसका स्वरूप भिन्न प्रकार है। उसमें हाथ-पैर नहीं चलाने होते हैं, मन की वृत्तियों को सही दिशा में चलाना होता है- चित्त को एकाग्र करना होता है और परम शक्ति के प्रति समर्पित होना पड़ता है। उसके प्रति वैसी ही लगन लगानी होती है जैसी कवि आनन्दघनजी ने चंद्रप्रभु के चंद्रमुख दर्शन हेतु दिखाई है- ‘देखन दे सखी, म्होने देखन दे’। परन्तु कठिनाई यह हो गई कि सरकारी नौकरी की मानसिकता ने लोगों की वृत्तियाँ ही बिगाड़ दी हैं। उसमें पुरुषार्थ करना ही नहीं पड़ता। काम करो तो भी ठीक, न करो तो भी ठीक। रिटायर्ड होने पर हर महीने पेंशन मिलती रहेगी। यही मानसिकता आध्यात्मिक क्षेत्र में भी पैठ गई

है- प्रभु का भजन चिंतन करो या न करो उससे मनोरथ की पूर्ति की कामना आवश्य रखो । पर वह साहब ऐसे नहीं रिझता है । वह पात्र देखता है । भक्ति कितनी प्रगाढ़ है तथा समर्पण कितनी है, यह देखता है । इसलिये इसके नाम की रट भी उसे भक्त के प्रति उदार बनाती है । तुलसी ने इसीलिये कहा था- ‘राम-राम रटतेउ रहो, जब लगी घट में प्राण । कबहुं तो दीनदयाल के, भनक पड़ेगी कान ।’ अतः आवश्यक है कि हमारे भीतर कवि आनन्दधनजी की तरह तड़प जागे । हम प्रभु की छवि को मन-मंदिर में बैठाकर उसे पुकारते जायें और प्रार्थना करते रहें कि वह चंद्रप्रभु अपना मुखचंद्र हमें लिखा दे ।

यदि हम गहराई से देखें तो स्पष्ट हो जायेगा कि चंद्रप्रभु के रूप के दर्शन की यह कामना वास्तव में उस शुद्ध चेतना से साक्षात्कार की कामना है जो ‘अहम्’ तत्व के रूप में सभी प्राणियों में समायी होती है । परन्तु आवश्यकता होती है उसे नियोजित करने की, जिससे वह शुद्ध चेतना का रूप प्राप्त कर सके । यदि व्यक्ति ऐसा कर पाता है तो वह प्रमाद में गमन करने से तो बच ही जाता है, शुद्ध अध्यवसायों में उसे रमण करने की स्थिति भी बन जाती है । यह शुद्ध चेतना उसे आत्मदर्शन की दिशा में प्रवृत्त करती है और यही आत्मदर्शन तो उस चंद्रप्रभु का दर्शन है, जिसकी कामना कवि आनन्दधनजी ने अत्यंत उत्कृष्ट भाव से की है ।

दि. 01.10.96



अहिंसा और धर्म

देखन दे सखी म्होने देखन दे ।
चन्द प्रभु मुखचंद, सखी म्होने देखन दे ॥
असंखयं जीदृ मा पमायए ।

धर्मप्रेमी बंधुओं ! प्रभु महावीर ने भव्य आत्माओं को संबोधित करते हुए कहा है- तुम्हारा जीवन असंस्कारित है प्रमाद मत करो । जरा विचार कीजिये कि सहसा यदि कोई व्यक्ति किसी से यह कहे कि तू असंस्कारित है, असभ्य है, तो उसके दिल पर कितनी चोट पहुँचेगी । मुझे असंस्कारित-असभ्य कैसे कह दिया ? प्रभु महावीर किसी के दिल को चोट नहीं पहुँचाना चाहते थे । पहुँचा भी नहीं सकते क्योंकि वे जानते थे कि-

‘सव्व भूयप्पभूयस्य, सम्मं भूयाइं पासओ’

प्रभु ने उद्घोष किया कि सभी आत्माओं को अपनी आत्मा के समान देखो । तो क्या वे किसी प्राणी के दिल को चोट पहुँचाने की कल्पना भी कर सकते थे । आचारांग सूत्र में स्पष्ट कथन है- हे पुरुष ! तू यदि किसी को मारने या कष्ट पहुँचाने का अपने मन में संकल्प भी करता है तो तू जिसके हनन का संकल्प कर रहा है वह तूं ही है । आत्मभाव के साथ कितना तादात्म्य है इस कथन में ! यहाँ किसी को ‘पर’ नहीं माना गया है और जब कोई ‘पर’ नहीं है तब अपनत्व के धरातल पर किसी के जीवन का हनन नहीं करेगा । प्रभु से पृच्छा की गई-प्रभो ! धर्म का स्वरूप क्या है ? प्रभु ने धर्म का स्वरूप बताते हुए कहा- ‘अहिंसा संज्ञमो तवो ।’

अहिंसा का स्वरूप क्या है इसे समझें। कहा गया है- ‘मा हिंसान् सर्व भूतानि’ किसी जीव को मत मारो। पर अहिंसा इतनी सीमित नहीं है। हमने उसे सीमित कर दिया है क्योंकि हम सीमित हो गए हैं ? हम व्याख्या करते हैं कि हिंसा नहीं करना अहिंसा है। अहिंसा को हम धर्म मानते हैं और स्वभाव को भी धर्म कहते हैं। स्वभाव के अतिरिक्त जो कुछ है वह धर्म नहीं है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है- धम्मो वथुसहावो। एक ओर स्वभाव को धर्म कहा है और दूसरी ओर अहिंसा, संयम और तप को भी धर्म कहा है। इसे तनिक समझें। दूसरों को नहीं मारें, तभी वह अहिंसा धर्म होगी। यहाँ दूसरे की हिंसा की बात कही गई है और जहाँ दूसरा नहीं मिला तो वहाँ धर्म कहाँ रहेगा, कहाँ टिकेगा ? सोचना है कि यह परिभाषा कितनी संगत है। प्रभु महावीर ने यह कभी नहीं कहा कि दूसरे की हिंसा नहीं करना अहिंसा है। यह प्रभु महावीर की अहिंसा की परिभाषा नहीं हो सकती क्योंकि-

‘सत्त्व भूयप्पभूयस्य, सम्म भूयाइं पासओ’

प्रभु कह रहे हैं कि सभी की आत्मा को अपने समान समझो। तो फिर दूसरा रहा कहाँ ? दूसरा जब बचा ही नहीं तो प्रभु ऐसी व्याख्या कैसे कर सकते थे ? प्रभु कह रहे हैं- ‘जो है सो ‘मैं’ हूँ’। सामान्यतः ‘मैं’ को अहंकार का प्रतीक माना जाता है परन्तु यहाँ यह ‘मैं’ अहं का नहीं बल्कि आत्मा का प्रत्यय है, आत्मा का लिंग है, जिससे आत्मा की पहचान होती है। जैसे मेरी आत्मा का स्वभाव ही धर्म है इससे भिन्न नहीं, यदि भिन्न हो तो यह कैसे कहेंगे कि-

‘सिद्ध जैसो जीव है, जीव सो ही सिद्ध होय।’

अपनी आत्मा को सिद्ध जैसी माना जा रहा है स्वरूप की दृष्टि से। वहाँ कोई भेद नहीं है तो फिर अहिंसा पर-सापेक्ष नहीं हो सकती क्योंकि अहिंसा को धर्म माना गया है। अहिंसा धर्म का केन्द्र है और तप धर्म की परिधि है। इस केन्द्र और परिधि को जोड़ने वाला है संयम। यदि संयम नहीं है तो अहिंसा और तप पड़े रहेंगे, धर्म की प्राप्ति नहीं होगी। आत्मा

और शरीर को जोड़ने वाला है प्राण। यदि प्राण को अलग कर दिया तो शरीर और आत्मा तो रहेंगे, शरीर पड़ा रहेगा और आत्मा भी अपने स्थान पर चली जायेगी। पर शरीर में रहने वाले ‘मैं’ प्रत्यय का जो संबंध है वह समाप्त हो जायेगा। अहिंसा और तप को जोड़ने वाला प्राण है- ‘संयम’। संयम नहीं तो अहिंसा भी अहिंसा नहीं रहेगी। यह बात मैं अपनी कल्पना से नहीं कह रहा हूँ, इसके पीछे शास्त्रीय प्रमाण है। प्रभु से पूछा गया कि एक अज्ञानी अथवी आत्मा दीक्षा धारण करती है और गौतम स्वामी के समान कठोर क्रिया का पालन करती है लेकिन क्या वह मोक्ष प्राप्त कर सकती है ? उत्तर होगा- नहीं। क्योंकि वह अभवी है- उसके भीतर संयम उत्तरा नहीं।

मासे मासे उ जो बालो, कुसग्गेण तु भुंजए।
न सो सुयकखाय धम्मस्स, कल्लं अग्घइ सोलसिं ॥

जो मास-मासखमण की तपस्या करता है, किसी जीव को नहीं मारने की प्रतिज्ञा भी कर लेता है, पर जिसमें संयम नहीं है ऐसी तपस्या करने वाले के लिए उत्तराध्ययन कहता है कि वह धर्म में 16वीं कला के बराबर भी नहीं आया। वह अहिंसा ही धर्म है, जिसमें संयम है। यह संयम भी तभी सुरक्षित रह सकता है जब उसमें तप का समावेश हो। जहाँ तप नहीं है वहाँ संयम भी नहीं है। आप कहेंगे कि किसी ने संयम स्वीकार किया पर उपवास, बेला, तेला नहीं करता तो क्या वह साधु नहीं है ? बात अटपटी लगेगी। पर सत्य यह है कि यदि संयम को सुरक्षित रखना है तो तप आवश्यक है। उपवास, बेला, तेला ही तप नहीं है। यदि क्षुधा से कम ग्रहण किया तो वह भी तप है। प्रतिसंलीनता अर्थात् इंद्रियों को वश में रखना और ‘इच्छा निरोधस्तपः’ अर्थात् इच्छाओं को सीमित करना या भीतर इच्छाओं को जागने की ही नहीं देना यह भी तप है। इच्छा जागती रही तो साधु जीवन की साधना नहीं हो सकेगी। साधु जीवन हो परन्तु उसके साथ इच्छाओं का अम्बार लगा रहे कि यह होना चाहिये, वह होना चाहिये तो समझिये अभी साधु जीवन में वह आनंद, वह मस्ती नहीं आई जो साधु जीवन को सार्थक बनाती है। यदि

आकांक्षाएँ लेकर चलते रहें तो संयम की शुद्ध भूमिका नहीं बन पायेगी। उस स्थिति में वहाँ अहिंसा का जोड़ कैसे होगा ? चूंकि संयम अहिंसा और तप को जोड़ने वाला प्राण है, अतः यदि प्राण ही सुरक्षत नहीं तो फिर अहिंसा और तप तक पहुँच कैसे पायेंगे ? धर्म की परिभाषा तो होगी-

अहिंसा संज्ञमो तवो

अहिंसा अकेली नहीं रहेगी, साथ में संयम और तप भी रहेंगे। अहिंसा नहीं हो तो संयम और तप भी अखंडित नहीं रहेंगे।

आज महात्मा गाँधी का स्मरण किया जाता है। 2 अक्टूबर के माध्यम से उन्हें विशेष रूप से याद कर लिया जाता है क्योंकि उन्होंने अहिंसा को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया और उसकी एक मिसाल विश्व के सामने रखी थी। हो सकता है उनमें अहिंसा का कुछ रूपान्तरण हो, क्षेत्र सीमित रहा हो, पर संयम और तप वहाँ भी मौजूद थे। पोशाक से भले नहीं थे पर इच्छा का निरोध रूप तप वहाँ था। विदेश-गमन से पूर्व माता ने कहा था- विदेश गमन की अनुमति तभी मिलेगी जब पहले तीन प्रतिज्ञाएँ ग्रहण करो और महात्मा बेचरदासजी के पास उन्होंने ये तीन प्रतिज्ञाएँ ग्रहण की- मद्य, मांस और परस्त्री का त्याग करूँगा। महात्मा गाँधी के जीवन के उत्थान का मूल प्राण ये प्रतिज्ञाएँ ही थी। विदेश में ऐसे प्रसंग भी उपस्थित हुए कि उन्हें मद्य और मांस के लिए आमंत्रित किया गया, बहिनों से सम्पर्क जोड़ने से के प्रसंग भी उपस्थित किए गए, पर महात्मा गाँधी ने स्पष्ट कह दिया कि मैं इनसे परहेज करता हूँ। मैं इनका सेवन/भोग नहीं करूँगा। मित्रों ने कहा- मिस्टर गाँधी, ये मामूली चीजें हैं। आज के व्यक्ति को अपने आपको थोड़ा बदलाव की स्थिति में लाना चाहिये। ये क्या, यह तो जौ का पानी है। क्या होता है, पी लें। महात्मा गाँधी ने कहा- क्या होता है, मुझे नहीं मालूम। पर सेवन करने से बौद्धिक हिंसा होती है। जहाँ तक अहिंसा की बात है और प्रभु ने उसकी जो परिभाषा दी है तथा आचार्य उमास्वाति ने भी तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है-

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा

अर्थात् प्रमत्त योग से प्राणों का व्यपरोपण अर्थात् नष्ट करना हिंसा है। इसमें भी यह नहीं कहा कि दूसरे के प्राणों को नष्ट करना हिंसा है। यदि व्यक्ति स्वयं के भी प्राणों का व्यपरोपण करता है, चाहे वह शराब से हो या अन्य नशीले व्यसनों से तो वह भी हिंसा है। भगवती सूत्र में पृच्छा की गई कि जीव आत्मारंभी है या परारंभी, तदुभयारंभी है या अनारंभी है, विचार करें कि आत्मारंभी का रूप क्या है ? आत्मा का आरंभ अर्थात् हनन करने वाला चाहे वह साधु भी क्यों न हो, आत्मारंभी है। यहाँ आत्महनन या आत्महत्या का तात्पर्य फाँसी या कुए में गिरना ही नहीं है। यदि व्यक्ति निरन्तर कषायों में लिप्त रहता है अथवा अशुभ अध्यवसायों में रमण कर रहा है तो भी वह अपनी आत्मा का आरंभ कर रहा है। ठाणांग सूत्र में उस कषाय आत्मा को अनात्मा कहा गया है। वह जागृत नहीं है परभाव में या दूसरे के प्रभाव में है, 'स्व' स्वरूप में नहीं है। 'स्व' स्वरूप में नहीं है तो अहिंसा भी नहीं है। अपने ही प्राणों का शोषण कर रहा है। शोषण कैसे कर रहा है ? एक छोटी-सी बात बतला दूँ- व्यक्ति स्वभाव में अधिम समय रहता है, आवेग में या तूफान में अल्प समय ही रह सकता है। पर एक बार मे आया यह अल्प सामयिक तूफान भी भयंकर विप्लव मचा देता है। बहुत समय के स्वभाव की स्थिति को तहस-नहस कर देता है। क्रोध तीव्र गति से आता है, पर कितने समय टिकता है ? आयेगा अल्प समय के लिए पर मानस की उर्वरा भूमि को नष्ट-भ्रष्ट कर देगा। भूकम्प कितने समय के लिए आता है ? कुछ सैकड़ या मिनटों के लिए पर कुछ सैकण्डों का भूकम्प ही भयानक विनाश की स्थिति उपस्थित कर देता है। अभी 2-3 वर्ष पहले महाराष्ट्र में भूकम्प आया था- जिसने न जाने कितनों को बेघर कर दिया था। हमारे भीतर ऐसा भूकम्प जो आता है वह आत्मा का आरंभ, वहाँ आत्मा स्वभाव में नहीं होती। जब वह अहिंसा में, स्वभाव में उपस्थित होती है तब सभी आत्माओं को अपनी आत्मा के समान समझती है। तब- 'मिति मे सव्वभुएसु' के भाव उद्भुत होते हैं। महात्मा गाँधी ने जो प्रत्याख्यान

लिये थे वे उनपर दृढ़ रहे, यही कारण है कि भारतीयों ने उन्हें बापू नाम से संबोधित किया। राष्ट्रपति तो बहुत हो गए पर बताईये ‘राष्ट्रपिता’ कितने हुए। पति दूसरा कुछ पैदा कर सकता है, पर पिता जन्म देने वाला होता है। वे पिता ऐसे ही नहीं बन गए, अपने जीवन में अहिंसा को अपनाया, संयमित और नियमित जीवन जीया, इच्छाओं की, व्यसनों की उड़ान में नहीं उड़े। यदि वे व्यसनों के सेवन में लगे रहते तो कभी राष्ट्रपिता नहीं कहलाते। उन्हें इसलिये स्मरण किया जाता है, क्योंकि उन्होंने अहिंसा, मध्य-मांस का त्याग और क्षमा जैसे गुणों में आस्था रखने का संदेश दिया और एक नये मार्ग से आजादी दिलाकर सांस्कृतिक चेतना का मार्ग खोला।

परन्तु खेद का विषय है कि उन्हीं की सन्तान उनके द्वारा दिखाये गये पथ से विचलित हो गई है। सरकार भी उनके जन्मदिवस पर उत्सव मना लेती है, परन्तु अपने आपको उनके आदर्शों पर कितना खड़ा रख पाती है यह हम सभी जानते हैं। उसे चाहिये पैसे, उसकी चिन्ता होती है कि आय कैसे बढ़े। सरकार क्या इसीलिये होती है ? आज व्यक्ति का आध्यात्मिक, बौद्धिक, नैतिक एवं शारीरिक स्तर पर पतन हो रहा है। नशीली वस्तुओं का व्यापक स्तर पर प्रचार-प्रसार हो रहा है इनका पहला प्रभाव शरीर पर पड़ता है, फिर बद्धि क्षीण होती है और उसके बाद आत्मा तक पतित हो जाती है। इस शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक पतन में सरकार प्रकारान्तर से सहयोग दे रही है। हम गाँधी को केवल याद करते हैं, परन्तु उनके आदर्शों को अपनाने के प्रति ईमानदार नहीं है। आज विपरीत स्थितियाँ हैं, व्यक्ति सोचता है मुझे क्या करना है, मुझे कौनसा फर्क पड़ रहा है- यह उदासीनता की स्थिति है। यदि यही दशा रही तो आने वाले समय में हम पतन की ओर अधिक गहरे गर्त में गिर जायेंगे।

एक समय था- भारत ऋषि-मुनियों की भूमि कहलाता था। दूध, दही की यहाँ नदियाँ बहती थीं, परन्तु आज दूध-दही के बदले उन्हीं

दुधारु पशुओं के रक्त की नदियाँ बहाई जा रही है। आप कहेंगे- हममें कुछ करने की क्षमता नहीं, जबकि सत्य यह है कि क्षमता तो आप में कम नहीं है तथापि हताशा के कारण आप उदासीन हो गये हैं। परन्तु यदि एक-एक व्यक्ति में भावना का उभार हो और एक भावनात्मक आन्दोलन प्रारंभ हो तो सरकार को सोचने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। मात्र आवेगा का उभार क्षणिक होता है। हम कोशिश तो करते हैं, पर सरकार की नीतियों के चलते नरम पड़ जाने हैं और कुछ समय बाद शान्त हो जाते हैं। आन्दोलन चला तो सरकार पर थोड़ा असर हुआ फिर उसने देखा कि जनता शांत हो गई तो कार्य पुनः चालू कर दिया। पंजाब और हैदराबाद में भी आन्दोलन चला -बूचड़खानों को लेकर, पर प्रभावहीन रहा। इस प्रकार समय बीतता जाता है और एक-एक व्यक्ति को तोड़कर शांत कर दिया जाता है। हमारे पास समय है, शक्ति है, इनका उचित रूप में उपयोग होना चाहिये। प्रभु ने कहा है- सभी आत्माएँ समान है। चाहे वे मनुष्य की हो या पशु की। तब फिर आपका क्या दायित्व है ? सभी आत्माओं को समान समझा है तो कर्तव्य के प्रति आप में उपेक्षा-भाव नहीं आना चाहिए। यदि किसी भी रूप में यह सामने आया है तो समझ लीजिये कि आज भी उससे जुड़े माने जायेंगे। विधेयात्मक रूप से नहीं तो मत के माध्यम से। आपको मत का अधिकार है तो यह आपका दायित्व भी है कि आप शर्त रखें कि बूचड़खाने और शराब की बिक्री बंद होनी चाहिए। जब हजारों पत्र सरकार को मिलेंगे तो उसे भी पता लगेगा कि जनता क्या चाहती है ? फिर भी यदि सरकार ने जनता की उपेक्षा की, तो जनता भी दिखा सकती है कि उसकी कितनी शक्ति है। आज यह प्रजातंत्र का युग है तो प्रजा क्या चाहती है उसे यह सरकार को बताना होगा। पर यदि ये चलते रहे और आप सोचते बैठे रहे तो बात ठीक नहीं रहेगी। आप अपने कर्तव्य पालन में जुटें। साधु और श्रावक भी अपने-अपने कर्तव्यों पर अडिग रहे तो बहुत बड़ी अहिंसक क्रान्ति हो सकती है। आवश्यकता पड़े तो प्रभु के श्रावक युद्ध क्षेत्र में भी पहुँच सकते हैं। प्रभु की अहिंसा कायरता नहीं वीरता है। अब यदि कोई कायर उसे अपनी

ढाल बना ले तो फिर अहिंसा की तेजस्विता नहीं रह पाएगी। देश के तेजस्वी बनाने के लिए कर्तव्य के प्रति जागृत होना होगा। परिवार समाज और देश के प्रति हमारा भी फर्ज है परन्तु सबसे बड़ा फर्ज अपनी आत्मा के प्रति है। इस कर्तव्य की पालना प्रत्येक आत्मा को आत्मवत् समझने पर ही होगी।

यह कहा जा सकता है कि प्रभु ने धर्म के पालन में सामाजिकता को पूरा महत्व दिया बल्कि उनकी धर्म प्रभावना का उद्देश्य समाज का हित था। धर्म के माध्यम से उन्होंने समाज कल्याण का कार्य किया। प्राणी मात्र के कल्याण के लिए उन्होंने धर्म का स्वरूप बताया ताकि लोग धर्म पर स्थित बनें। उनमें धर्म के प्रति एक ललक जगे। आत्मवत् सर्व भूतेष के प्रभाव से ही उन्होंने तीर्थकर नामकर्म का बंध किया। साधु बने और केवलज्ञान प्राप्त किया। यह निश्चित हो गया कि उनकी मोक्ष नहीं रुकेगी फिर उन्होंने प्रत्येक आत्मा के कल्याण के लिए उपदेश दिया, देश-विदेश में विचरे ! वे जानते थे कि प्रत्येक आत्मा अपनी आत्मा के तुल्य है जो अपनी आत्मा का स्वभाव या धर्म है। इसलिये उन्होंने प्रत्येक आत्मा के कल्याण के लिए ही देशना दी और देश-विदेश में विचरण किया। यदि प्रभु एक स्थान में रहते तो संयम साधना अधिक सरल होती। लेकिन नहीं, प्रभु इतने जागृत थे कि उनके पास चाहे हजारों-लाखों सो जाते पर उन्हें झपकी भी नहीं आती थी। एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव होता है, वातावरण का प्रभाव भी होता है इसलिये यात्रा करते समय यदि आप ड्राईवर के पास की सीट पर बैठते हैं तो ड्राईवर टिल्ला लगाता है, यदि मेरे पास सोये तो मुझे भी नींद आ जायेगी और ड्राईवर सो गया तो क्या हालत होगी ? पर प्रभु प्रभावों से अछूते थे। वे अपनी मुस्तैदी चाल से चल रहे थे। नींद तो आ ही नहीं सकती थी, दर्शनावरणीय कर्म ही नहीं रहे। अनंत शक्ति जागृत हो चुकी थी फिर नींद की क्या आवश्यकता थी ? जब हममें भी वह शक्ति जागृत हो जायेगी तो हमें भी सोना नहीं पड़ेगा। अभी तो सोना पड़ता है, विश्राम लेना पड़ता है ताकि हम शक्ति

अर्जित कर लें। नींद इसलिए नहीं है कि हम मखमली गद्दों पर मधुर स्वप्नों में खोए रहें। स्वप्न में डूबे रहे तो नींद पूरी नहीं होगी, थकान नहीं मिटेगी, शरीर भारी-भारी लगेगा। दिनभर शरीर को यदि काम में लेंगे तो फिर देखेंगे कि गद्दे-तकिए मिलें या नहीं, पर ऐसी नींद आएगी कि आप आश्चर्य करेंगे। साधु के पास कौन से गद्दे होते हैं, पर वे शांति से निंद्रा लेते हैं। यदि सोने की सही विधि को नहीं जाना तो गद्दे-तकिए क्या करेंगे ? नींद को गादी-तकिए की आवश्यकता नहीं होती।

विहार में कई भाई साथ चल रहे थे। एक दिन जंगल में प्याऊ पर रुकने का प्रसंग आया, पर भाई गाँव में नहीं गए। कहने लगे- गाँव में नहीं छोड़ा तो अब जंगल में अकेले कैसे छोड़ें ? वहाँ तो साधन थे नहीं, यहाँ तक कि बिछाने के लिए टॉवेल भी नहीं था, ऐसे ही सो गए। प्रातःकाल हम तो समय पर उठे, प्रतिक्रमण आदि से निवृत्त हुए, पर वे अपनी मस्ती में सोये थे। अचानक नींद खुली या किसी ने जगाया। मैंने पूछा- नींद आई या नहीं ? तो कहने लगे- ऐसी नींद आई जैसी घर पर कभी नहीं आई होगी। नींद के लिए मखमली गद्दे जरूरी नहीं है। उन्हें तो हमने एक शौक बना रखा है। यदि अहिंसा का व्यापक रूप बन जाये और अपनी शक्ति को सही रूप में संयोजित रखें तो नींद की जरूरत ही नहीं रहे, विश्राम की जरूरत नहीं रहे। विभाव में शक्ति का ह्वास ज्यादा होता है। जिसे क्रोध आता है उसे विश्राम की जरूरत महसूस होती है। उसे प्यास लगती है क्योंकि जीवनी शक्ति से रस बनना मंद हो जाता है। परिणामस्वरूप उसका गला सूखने लगता है। दूसरी स्थितियाँ भी बिगड़ती हैं। विभाव के विस्तार में स्वभाव सिकुड़ता है परिणामस्वरूप उसका दायरा सिमट जाता है।

महाभारत का एक प्रसंग है- अर्जुन ने प्रतिज्ञा की थी कि जो भी मेरे गाण्डीव धनुष की निन्दा करेगा या उसका अपमान करेगा, मैं उसका वध कर दूँगा। एक बार युद्ध में धर्मराज युधिष्ठिर को कर्ण ने बाणों से बींध दिया। युधिष्ठिर का शरीर क्षत-विक्षत हो गया। उन्हें शिविर में लाया

गया । अर्जुन साता पूछने पहुँचे । धर्मराज को क्रोध आ गया, कहने लगे क्या काम का यह तुम्हारा गाण्डीव, जिसके रहते कर्ण ने मेरे शरीर को क्षत-विक्षत कर दिया ? युधिष्ठिर ने तो बात सहज भाव से कह दी । परन्तु अर्जुन की प्रतिज्ञा थी, पहुँचे अपना गाण्डीव उठाया और चल पड़े युधिष्ठिर के वध हेतु । मार्ग में योगनिष्ठ त्रिखण्डाधिपति श्रीकृष्ण मिल गये । अर्जुन से प्रश्न किया- अरे इस समय तो विराम के क्षण है, युद्ध बंद है फिर धनुष उठाये किधर जा रहे हो ? अर्जुन ने बात बता दी । कृष्ण ने सुना और कहने लगे- अर्जुन ! तुमने तो धर्मराज का वध कर दिया । अर्जुन चौंक पड़े- मैं तो अभी गया ही नहीं हूँ फिर वध कैसे कर दिया ? कृष्ण ने समाधान दिया- नीतिकारों ने कहा है अपने से बड़ों का अपमान या तिरस्कार करने के लिए एक कदम आगे बढ़ा तो वह भी उनके वध के समान है । महावीर ने भी कहा है- मन से हिंसा, वचन से हिंसा और काया से हिंसा होती है । मन में हिंसा का संकल्प भी हिंसा है । अर्जुन तो आगे बढ़ चुके थे, वचन से भी कह दिया था । बड़ों का तिरस्कार भी वध के तुल्य है ।

वध के कई तरीके हैं । इस संबंध में एक नीति कथा है । एक बार एक ही अपराध से संबंधित तीन अपराधी राजा के सामने लाए गये । राजा ने देखा और दण्ड दिया । पहले की ओर दृष्टि उठाकर बस इतना कहा- अरे आप ? दूसरे को देश निकाला दिया और तीसरे को फाँसी का हुक्म सुना दिया । पहला व्यक्ति घर पहुँचा आत्महत्या कर ली । अरे इतने व्यक्तियों के बीच अपमानित होकर जीना भारभूत है ।

दूसरे ने देश सीमा से बाहर निकलकर प्राण त्याग दिये- इतनों ने मुझे देख लिया, अब क्या जीना । तीसरा निर्लज्ज था । फाँसी पर ले जा रहे थे तब भी हंस रहा था । लोगों को आश्चर्य हो रहा था- एक ही अपराध पर तीन दण्ड कैसे ? राजा ने कहा- मैंने तीनों को एक समान दण्ड दिया है । तीनों को प्राणदण्ड दिया है और तीनों का जीवन समाप्त हो चुका है ।

श्रीकृष्ण ने समझाया- अर्जुन तुम मानसिक संकल्प से धर्मराज का वध कर चुके हो। प्रभु महावीर ने हिंसा के तीन रूप बताये ही हैं- मानसिक, वाचिक और कायिक। साधक के लिए तीन कारण तीन योग का विधान है। वह हिंसा करे नहीं, करावे नहीं, अनुमोदन करे नहीं- मन से, वचन से और काया से। साधु के आगार नहीं हैं, उसके पूर्ण अहिंसा का लक्ष्य है। जब अहिंसा और संयम आ जायेंगे तब तप की परिधि से संयम सुरक्षित हो जावेगा। अहिंसा का आदर्श तथा धर्म का यह स्वरूप संतों एवं पूज्य आचार्यों के कारण ही सुरक्षित रह पाया। युगदृष्टा जवाहराचार्य ने जब देखा कि अहिंसा को सीमित किया जा रहा है तब उन्होंने कहा- अहिंसा इतनी ही नहीं है। ग्राम में रहते हुए ग्राम के प्रति अपने कर्तव्य को पालन करो। ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करो। यदि नहीं कर सकते तो साधु बन जाओ। परिवार और समाज के दायित्व को वहाँ रहते हुए नहीं निभाया तो आपका जीवन भारभूत हो जावेगा। श्रुत और चारित्र धर्म में भी कपड़े पहनकर प्रवेश कर लिया, पर यदि अहिंसा नहीं आई तो ‘स्व’ स्वरूप फलित नहीं होगा। हम नारे लगाते हैं- ‘अहिंसा परमो धर्मः’।

अहिंसा परम धर्म कब बनेगा ? यदि पालन ही नहीं किया तो नारे से क्या होगा ? अहिंसा के लिए तप और संयम का भी जब वृत्तियों में समावेश होगा तब पूर्ण पुरुष का रूप बनेगा। आत्मा, शरीर और प्राण से ही जीवंत रूप निर्मित होगा और धर्म पल्लवित होगा। धर्म का रूप किस प्रकार उभरे उसके लिए अन्वेषण करें, विचार करें जो कुछ निकल जायेगा वह पराया होगा और जो शेष बचेगा वह आपका होगा। आत्मा जब भली-भाँति जागृत हो जायेगी और आप अहिंसा, संयम और तप के धर्म में प्रविष्ठ होंगे तो प्रभु की श्रेणी में पहुँच जावेंगे। और फिर ‘तुझमें मुझमें भेद नहीं रहेगा, अभेद, अमद अवस्था प्राप्त हो जायेगी।’ इस प्रकार अहिंसा के माध्यम से धर्म फलित होगा।



परमार्थ तत्त्व की महिमा

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी ।
विविध भंगी मन मोहे रे ।

शीतलनाथ भगवान् इस अवसर्पिणी काल के दसवें तीर्थकर हुए हैं। यह प्रार्थना उन्हीं के प्रति है। प्रार्थना में कुछ परिवर्तन हुआ है और नाम का भी परिवर्तन हो सकता है। क्योंकि नाम ऊपर से आरोपित संबोधन होता है। अस्तित्व के साथ उसका संबंध नहीं रहता है। नाम से व्यक्ति को पुकारा तो जा सकता है, पर नाम की ही पूजा-उपासना नहीं होती। शीतल नाम के अनेक व्यक्ति हो सकते हैं, पर सभी की जिनपति के रूप में उपासना नहीं की जाती। इस प्रकार नाम की एक सीमित आवश्यकता अवश्य है तथापि पूर्णता प्राप्त हो जाने के बाद नाम की भी आवश्यकता नहीं रहती। वैसे भी आत्मसमाधि में नाम की ज़खरत नहीं होती पर पहचान के लिए नाम का उपयोग किया जाता है। कवि आनन्दघनजी ने स्तुति करते हुए इसी प्रकार का नाम उपयोग किया है।

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी, विविध भंगी मन मोहे रे ।

करुणा कोमलता तीक्ष्णता उदासीनता सोहे रे ॥

विचार करें तो स्पष्ट होगा कि करुणा कोमलता का ही एक रूप है। हृदय में यदि कोमलता नहीं है तो करुणा का झरना नहीं फूट सकता। उस स्थिति में करुणा की खेती नहीं लहलहा पायेगी। पथर हृदय में करुणा का वास नहीं हो सकता। वहाँ कोमलता-कठोरता तथा करुणा-तीक्ष्णता परस्पर विरोधी धर्म है। जब हम इन धर्मों की विवचेना

करते हैं तब प्रश्न उत्पन्न होता है कि शीतलनाथ भगवान में ये परस्पर विरोधी धर्म कैसे टिके रहते हैं। क्या जहाँ करुणा है वहाँ कठारेता, तीक्ष्णता, उदासीनता हो सकती है ? इनके साथ अन्य प्रश्न भी उभरते हैं। करुणा और कोमलता का यदि सीधा संबंध जोड़ें तो वह संबंध राग भावों के साथ जुड़ता है। राग प्रशस्त है या अप्रशस्त यह विषय अलग है। अप्रशस्त राग के साथ करुणा का संबंध नहीं जुड़ सकता, प्रशस्त राग से संबंध जुड़ता है। कठोरता और उदासीनता द्वेष-जनित अवस्थाएँ हैं। इनके पीछे द्वेष के भाव झलकते हैं। हम प्रार्थना करने बैठे हैं वीतराग भगवान की, जिन्होंने अपने आपको राग-द्वेष से ऊपर उठा लिया था। जिनमें राग-द्वेष जनित वृत्तियाँ विद्यमान हैं उनकी प्रार्थना नहीं की जा सकती। प्रार्थना तो इसलिये की जाती है ताकि आराध्य के गुण हमारे आदर्श बनें। परन्तु यदि गुण राग-द्वेष जनित हैं तो उन्हें अपना आदर्श कैसे बना सकते हैं ? जिनकी उपासना की जा रही है उनमें यदि राग-द्वेष हैं तो यह भगवान के प्रति हमारी भक्ति हुई या अभक्ति ? इस संदर्भ में बहुत से प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं। कभी-कभी ऐसी चर्चा भी की जाती है कि अनुकम्पा में मोह भाव होता है। लेकिन कवि आनन्दधनजी तो प्रार्थना करते हुए जो यह कहे गये हैं-

करुणा कोमलता तीक्ष्णता उदासीनता सोहे रे ।

उनमें मोह-भाव से करुणा हो तो हमें सोचना होगा। यथार्थ में करुणा मोह भाव से निश्चित झरना नहीं है। करुणा का संबंध सीधा चेतना के साथ जुड़ा है और वहाँ से वह निर्जरित होती है। सम्यक्त्व आत्मा की शुद्ध अवस्था है। सम्यक्त्व के लक्षणों में कहा गया है- सम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्था। इनमें अनुकम्पा भी एक लक्षण है। राग में कलुष भाव, मोह को बढ़ाने वाले भाव हो सकते हैं, पर करुणा, अनुकम्पा, राग के अन्तर्गत यदि आती है तो उसके संबंध में प्रश्न व्याकरण सूत्र में कहा गया है कि-

सत्त्व जग जीव रक्खणदयट्ठयाए भगवया पावयणं सुकहियं ।

अर्थात् संसार के सब जीवों की रक्षा-रूप दया के लिए भगवान् ने प्रवचन कहे। यदि रक्षा, अनुकम्पा मोह के अन्तर्गत होती तो यह कथन नहीं किया जाता। भगवान् प्रवचन कब कहते हैं? छद्मस्थ अवस्था में वे प्रवचन नहीं करते, उपदेश देशना नहीं देते। जब वीतराग बन जाते हैं, राग-द्वेष से ऊपर उठ जाते हैं और केवलज्ञान तथा केवलदर्शन की ज्योति प्राप्त कर लेते हैं तब वे प्राणियों को दुःखी देखते हैं। कभी-कभी वैसे तो खुली आँखों से कुछ भी दृष्टिगत नहीं होता पर जब माइक्रोस्कोप से देखते हैं तो बहुत से छोटे-छोटे अणु-परमाणु भी दिख जाते हैं। ये वे अणु-परमाणु नहीं हैं जिन्हें जैन दर्शन में परमाणु संज्ञा से अभिहित किया गया है। वे तो छद्मस्थ होने के कारण नजर में नहीं आ सकते। उन्हें तो माइक्रोस्कोप से भी नहीं देखा जा सकता। परम् अवधिज्ञानी की बात अलग है। एक अन्य बात भी है। प्रयोग करके देखें- किसी कमरे के द्वार में यदि छिद्र हो तो उससे प्रकाश की जो किरण आ रही होती है उसमें अनेक तन्तु उड़ते हुए दिखाई देते हैं। वैसे तो वे आँखों से दिखाई नहीं देते, पर उस किरण के माध्यम से वे नजर आने लगते हैं। तीर्थकरों को केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है, उनका सारा तिमिर दूर हो जाता है, पर्दा हट जाता है। तब दुनिया में जितने भी जीव हैं वे उस ज्ञान के प्रकाश में झलक जाते हैं। प्राणियों के दुःखों को देखकर उनमें सहज ही करुणा का स्रोत निर्झरित हो जाता है और उसी करुणा भाव से प्रेरित होकर वे उन भव्य आत्माओं को संबोधित करते हैं-

असंख्य जीविय मा पमायए

तुम्हारा जीवन असंस्कारित है, प्रमाद मत करो। तुम प्रमाद कर रहे हो, यहीं दुःख का कारण है। ऊपर से तुम जखर सुख के आकांक्षी हो पर यथार्थ में सुख की कामना तुममें नहीं है। जैसे प्रभु के अन्तर से करुणा का स्रोत बहता है, वैसी ही भीतर से सुख की कामना, उपासना, आराधना उपजे तब सुख मिलता है। विरल व्यक्ति ही सुख की कामना

करने वाले मिलेंगे। तब यह पूछा जा सकता है कि क्या यहाँ बैठे सभी व्यक्ति सुख नहीं चाह रहे हैं? यह व्यक्ति स्वयं चिंतन करे कि वह सुख चाह रहा है या दुःख। क्योंकि एक नीति कथन है-

दुख दिया दुःख होत है, सुख दिया सुख होय।

इस कसौटी से परीक्षण कर लिया जाये कि कौन क्या चाहता है। नीति का सही कथन अहिंसा से जुड़ता है, आत्मभावों से जुड़ता है- सभी की आत्मा मेरी आत्मा के तुल्य है। प्रभु महावीर ने सभी को अपने समान स्वीकार कर लिया इसीलिए किसी को कष्ट नहीं दिया। फिर चाहे संगम ने, ग्वाले ने कैसे भी उपसर्ग दिए हों, अनार्य क्षेत्र में प्रभु पर शिकारी कुत्ते छोड़ दिए गए हों, पर प्रभु ने किसी का प्रतिकार नहीं किया। उनके हृदय में कौन से भाव प्रवाहित हो रहे थे-

**कुल्हाड़ी से कोई काटे, कोई आ फूल बरसाये।
खुशी से दे दुआ यकसॉ, अजब सारे चलन ही है ॥**

जगत् के तारने वाले संत जन ही है। संत को जगत् में तारने वाला कहा गया है। क्यों? प्रभु पर अनेक उपसर्ग देने वाले आये, तो बहुत से फूल चढ़ाने वाले भी आये। सचित्त फूल नहीं चढ़ाये, नहीं तो कहते कि प्रभु पर चढ़ाये गये थे अतः हम भी आज फूल चढ़ायेंगे। वे फूल थे श्रद्धा के, गुणानुवाद के, गुणोत्कीर्तन के। लोगस्स में, णमोत्थुणं में, प्रभु की स्तुति, गुणोत्कीर्तन के भाव ही तो हैं। ये भाव रखने वाले भी आये, पर प्रभु न इधर लिप्त हुए, न उधर। अपितु, एकाग्र भाव से अपना मार्ग तय करते रहे। यह ध्यान में रखने की बात है कि यदि हमने शरीर को एक ओर टेका दे दिया तो सारा भार एक तरफ आ जायेगा, दूसरी ओर झुकाया तो सारा भार उधर पड़ जायेगा। ऐसे में संतुलन नहीं रह पायेगा। सन्तुलन बनाये रखना है तो दोनों पैरों पर सम भार डालना होगा। इधर-उधर झुकाव नहीं रहे तब बनेंगे समत्व के भाव, वीतराग के भाव। इसी रूप की आराधना, उपासना के लिए हमें तीर्थकर संकेत करते हैं पर

हम समझ नहीं पाते और संतुलन बिगाड़ लेते हैं। इसीलिए प्रभु ने कहा है-

असंख्य जीविय मा पमायए

जीवन असंस्कारित है, प्रमाद मत करो। जीवन को संस्कारित करो। कब होगा जीवन संस्कारित ? एक पौधा भूमि से बाहर आया, माली ने उसकी सुरक्षा के लिए बाड़ लगा दी। पत्थर की या काँटों की एक दीवार कर दी ताकि आने वाले पशु या व्यक्ति उसे उखाड़े नहीं, नष्ट नहीं करें। इससे विपरीत दृष्टांत लें- सड़कों पर कई बार हम देखते हैं कि बाड़ के भीतर एक पौधा लहलहा रहा है। संयोग की बात, एक जंगली पौधे की नजर पर उस पर पड़ी तो कहने लगा- अरे वाह, तुम्हारे मालिक का तुम पर जरा भी विश्वास नहीं है जो तुम्हारे चारों ओर पिंजरा लगा दिया। वह नन्हा पौधा भी उसकी बातों में आ गया। हाँ, सच ही तो है। मालिक ने मुझे क्या समझा ? मैं ताजी स्वच्छ हवा भी नहीं ले पा रहा हूँ। सुरसुरी छोड़ने वाले सुरसुरी छोड़ जाते हैं, पर फल दूसरे को भोगना पड़ता है। अस्तु, पौधे को भी सही दिशाबोध नहीं मिला था। मैं बाड़े-बंदी में नहीं रह सकता। उसने सोचा और माली से कह दिया- मैं इस घेरे में नहीं रहूँगा। माली ने उसे बहुत समझाया पर वह अपने निर्णय पर अटल रहा। उसने कह दिया- मैं स्वतंत्रता चाहता हूँ। सुरक्षा की बाड़ हटा दी गई। थोड़े ही समय में उस पौधे क्या स्थिति बनी होगी आप समझ सकते हैं। प्रभु ने कहा हैं-

परमत्थसंथवो वा सुदिट्ठ परमत्थ सेवणा वावि ।
वावण्ण कुदेंसण वज्जणा य सम्पत्त सद्वहणा ॥

उत्तराध्ययन सूत्र 28/28

सम्यक्त्व के चार श्रद्धान हैं। जैसा कि ज्ञानीजनों ने भी बताया है। ये जीवन को संस्कारित करने के लिए तथा उसकी सुरक्षा के लिए हैं। इनमें दो विधि परक हैं और दो निषेधपरक हैं। निषेध भी विधि रूप में

है। जो परमार्थ के ज्ञाता हैं वे जानते हैं कि जो परम् अर्थ है वही परमार्थ है। मोक्ष परमार्थ उसका वह शुद्ध स्वरूप है जिसने अपने स्वभाव को अर्थात् धर्म को प्राप्त कर लिया है। धर्म आत्मा का स्वभाव है। वह जिसमें प्रकट हो जाये, जिसमें प्रस्फुटित हो जाये वह उसका संस्थव करे। प्रभु ने यह नहीं कहा कि मेरे नाम का संस्थव करो। जिसने भी परम् अर्थ को प्रकट कर लिया है उसकी चाहे कोई निन्दा करे या प्रशंसा, उसका संतुलन नहीं बिगड़ता है। यदि किसी का संतुलन बिगड़ रहा है तो उसका परिचय या गुणानुवाद करने के लिये नहीं कहा गया हैं। तब विचार करें कि जिसने परमार्थ प्राप्त कर लिया है उसकी प्रशंसा से क्या होगा ? प्रशंसा से वह खुश नहीं होगा बल्कि स्वयं अपने भीतर परमार्थ उतारेगा। हमारे भीतर भी परमार्थ का वही स्रोत प्रादुर्भूत होगा, जिसकी अनुभूति अनिर्वचनीय होती है। वह आनंद की गहन अनुभूति होगी। परमार्थ का परिचय करने से अपने भीतर उसका अटका हुआ स्रोत बह निकलेगा। अतः ऐसे की सेवा-उपासना अपनी सेवा-उपासना है।

एक व्यक्ति आग के पास बैठता है तो उसे गरमास मिलेगी, तालाब के पास बैठने वाले को ठंडक मिलेगी। लेकिन जो व्यक्ति गटर के पास बैठेगा और जो फूलों के रमणीय उद्यान में टहलेगा उन्हें कैसी अनुभूति होगी यह बताने की आवश्यकता नहीं। जिसने परमार्थ को प्रकट कर लिया है उसकी सेवा करने से वे शीतल फुहारें मिलेंगी। भगवान् के समवशरण में पहुँचने पर परमार्थ का झरना प्रकट होता है, अणु-अणु से वह निर्झरित होता है तब वहाँ हवा भी वैसी ही प्रसृत होगी और वहाँ का वातावरण भी परमार्थमय होगा, जो वहाँ बैठने वाले को शांत समीर से आप्लावित कर देगा।

बचाव के लिए भी दो बातें और बताई गई हैं। जिन्होंने परमार्थ का वमन-त्याग कर दिया, उन्हें भी कई बार असंस्कारित जीवन स्वीकार करना पड़ता है। होता यह है कि कभी-कभी परमार्थ प्रकट होता है पर प्रज्ञा परीष्ह, ज्ञान परीष्ह से वह हार जाता है और वह अज्ञान से आवृत्त

हो जाता है। परमार्थ के झरने की राह में पथर आ जाते हैं, प्रवाह बंद हो जाता है। झरना रुका कि असंस्कारित अवस्था बनीं। झरना रुका कि ज्ञानावरणीय का प्रभाव और उसके साथ ही दर्शनावरणीय का प्रभाव प्रगाढ़ हो जाता है और फिर सम्यक्त्व मोहनीय की कांक्षा में प्रविष्ट होता हुआ ध्वजा की तरह अस्थिर बना हुआ मिथ्यात्व में पहुँच जाता है। ऐसे व्यक्ति से बचने के लिए कहा गया है- घर का भेदी लंका ढावे। जिसने स्वयं को अंधकार में पहुँचा दिया है, तो अपने आपको, पूर्व स्थिति को तिरोहित करने की स्थिति में पहुँच गया है, उससे परिचय करने पर वह दूसरों में भी अंधकार पैदा करेगा। इसी प्रकार जिसने परमार्थ का वमन-त्याग कर दिया है वह दूसरे को भी उधर ले जायेगा। कवि कह रहा है- शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी। प्रभु को जिनपति कहा गया है। वे तीन लोक के प्राणियों के स्वामी हैं। जिसने उन्हें छोड़ दिया वह परित्यक्ता है। उससे परिचय करने पर पति की बुराई ही सुनने को मिलेगी। इसलिए उससे दूर रहना है। इसी प्रकार जिसकी दृष्टि अभी तक सही हुई नहीं है, उनके साथ बैठना-उठना, आलाप-संलाप नहीं करना है। वे जो स्वयं अंधकार में हैं दूसरों को प्रकाश कैसे देंगे ? यदि जीवन को संस्कारित करना है तो प्रमाद में गाफिल मत होओ। चूहा सोचता है अरे- मैं बलवान हूँ बिल्ली मेरा क्या कर लेगी ? अरे, आगे बढ़ तो सही मालूम पड़ जायेगा तू कितना बलवान है। कब बिल्ली आ जायेगी, गटका कर जायेगी पता भी नहीं चलेगा। चूहा कह सकता है मैं होशियार हूँ, पर होशियारी पड़ी रह जायेगी।

तनिक विचार करें कि तीर्थकरों ने साधु जीवन की मर्यादा, त्याग, नियम क्यों बनाये हैं। कारण यह है कि वे जो चाहते हैं कि जीवन में जो संस्कारों की पौध फूटी है वह सुरक्षित रहे, प्रकाश की सुरक्षा हो। वह स्रोत जो प्रकट हुआ है उससे शीतलता बढ़ती जाये। भगवान की प्रार्थना करते हुए कहा गया है- प्रभु तुम्हारे भीतर जो झरना प्रकट हुआ है वह मेरे भीतर भी प्रकट हो। अभी तो केवल सूराखें पैदा हुई हैं, जिन्हें गहरा

खोदा जाना है। तब ही सुराखों से पानी बूँद-बूँद झरेगा और कुआँ भर जायेगा। अपने भीतर के कुएँ में शीतल झरने को प्रकट करना है तो मा पमायए- प्रमाद में मत पड़ो। पड़ गए तो कुआँ सूख जायेगा जीवन असंस्कारित रह जायेगा। संस्कार नहीं तो भले-बुरे की पहचान भी नहीं कर पाओगे। आँखें होते हुए भी सही निर्णय नहीं ले पाओगे। इसलिये प्रभु की प्रार्थना करते हुए शीतलता प्राप्त करने का प्रयास करो। मैं कह गया हूँ कि सुख की कामना वाले कम हैं, दुःख चाहने वाले ही ज्यादा हैं। विचार कीजिये कि एक व्यक्ति की बीस बार प्रशंसा की तो उसे उतना सुख नहीं होगा जितना दुःख तब होगा तब एक कटु शब्द उसे कह दिया जायेगा। यदि सुख की कामना होती तो एक कटु शब्द से भले ही दुःख होता तो भी उसके पास 19 बार का सुख तो शेष होता। अतः उसे सुखी रहना चाहिए था, पर ऐसा नहीं होता। अर्थात् वह सुख नहीं चाहता। अब आप ही बताओ वह क्या चाहता है? आप कहोगे- “चावां तो सुख ही पण पता नहीं दुःख कठे से आ जावे।”

एक बार पाण्डवों ने भोज का आयोजन किया। भीम भी परोसगारी कर रहे थे। एक व्यक्ति ने परोसगारी के लिए उनका पल्ला पकड़ा। भीम ने कहा- आपका अभी तक पेट नहीं भरा क्या? मैं पाँच-छः बार मिन्नत करके परोस गया हूँ। पाँच-छः बार परोसने पर सुख हुआ हो या नहीं, पर एक बार कह दिया कि पेट नहीं भरा क्या, तो उस समय क्या करोगे? उठकर खड़े हो जाआगे या बैठे रहोग अथवा हो हल्ला मचा दोगे। दुःख की चाह है तभी तो उसे जल्दी पनाह देते हो। पत्थर आड़े आ जायेंगे। सुख की कामना है तो अप्रमत्त बनो। सुख की कामना की गई तो दुःख भुगतना पड़ेगा। दुःख की कामना तो होती नहीं। अतः सन्तुलन बिगड़ने मत दो। शीतलनाथ भगवान में करुणा, कोमलता, कठोरता, तीक्ष्णता आदि परस्पर विरोधी धर्म होते हुए भी उनकी वीतरागता इसलिये सुरक्षित रहती है क्योंकि उन्होंने ऐसा संतुलन प्राप्त कर लिया होता है। ये किंचित् गहन बाते हैं अतः समझने की कोशिश करें। हम क्षमापना का स्वरूप भी

समझें। औपचारिक रूप से क्षमापना उचित नहीं। क्षमापना वह है जिसके बाद परस्पर आहलाद-भाव पैदा हो। संवत्सरी निकलने पर भी क्षमापना नहीं की जाती तो समकित टिक नहीं पाती। प्रमाद जीवन को रसातल में ले जाने वाला है। प्रमाद को छोड़ो, परमार्थ का स्रोत्र स्वतः प्रवाहित होगा। सुरक्षा की बाड़ में स्वयं को सुरक्षित कर लो, कहीं कोई दुष्प्रवृत्ति छेड़छाड़ न कर दे। उसके प्रभाव में आ गये तो संस्कार की पौध तहस-नहस हो जायेगी। परमार्थ तत्वों को आश्रय दो तो फिर उस परम अर्थ जिसे मोक्ष कहते हैं; जो सत्य, शाश्वत स्थान या अव्याबाध सुख है, उसे प्राप्त कर सत्-चित्-आनन्दमय स्वरूप में लीन हो पाओगे।



सुसंस्कार : परम धन

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी, विविध भंगी मन मोहे रे ।
करुणा, कोमलता, तीक्ष्णता, उदासीनता सोहे रे ॥
सर्व जन्तु हितकरणी करुणा कर्म विदारण तीक्ष्ण रे ।
हान-दान रहित परिणामी, उदासीनता वीक्ष्ण रे ॥

शीतल जिनपति की प्रार्थना करते हुए कवि आनंदघनजी मुग्ध हो जाते हैं। इस मुग्धावस्था में वे जब परमात्मा के विधि गुणों पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं तब वे गुण उनके चित्त पर अंकित हो जाते हैं और वे गा उठते हैं- ‘शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी...।’ उन गुणों के प्रति अनुरक्त उनका मन उन गुण रूपी पुष्पों के इर्द-गिर्द भौंरें की भाँति मंडराने लगता है और जो मकरन्द वह पाना चाहता है, वह मकरन्द वे ललित गुण हैं जिन्हें उन्होंने त्रिभंगी नाम दिया है। ये तीन भंग हैं- करुणा, तीक्ष्णता और उदासीनता।

इन शब्दों का अर्थ करें तो तीक्ष्णता का अर्थ है तीखापन। कठोरता और उदासीनता का स्वरूप भी कवि ने स्पष्ट किया है। हम विचार करें कि प्रभु में भी उदासीनता संभव है ? यदि हाँ तो इस उदासीनता की प्रकृति पर विचार करें।

सांख्य मत में पुरुष को उदासीन बताया गया है। सांख्यों ने प्रकृति और पुरुष को स्वीकार किया है। जैन दर्शन जीव और अजीव कहता है। वेदान्त में ब्रह्म और माया कहा गया है। इन सभी वृत्तियों के भिन्न-भिन्न आयाम हैं। पर यदि गहराई से देखें तो स्पष्ट होता है कि सभी ने दो

तत्त्वों को माना है, क्योंकि अकेला शुद्ध तत्त्व सृष्टि रचना में सक्षम नहीं है। जब दो तत्त्व किसी निश्चित अनुपात में मिलते हैं तब कोई नयी संरचना करते हैं। जैसे हाइड्रोजन और ऑक्सीजन किसी निश्चित परिमाण में मिलकर पानी में परिणत हो जाते हैं। वैसे ही दो तत्त्व चाहे उन्हें जड़-चेतन कहें, चाहे प्रकृति-पुरुष कहें एक भिन्न रचना को संभव बनाते हैं। यद्यपि सांख्यदर्शन पुरुष को प्रकृति से सर्वथा उदासीन मानता है।

कवि आनन्दघनजी स्पष्टीकरण करते हुए कह रहे हैं- हाना-दान-रहित परिणामी। प्रभु में गुण जखर हैं और वे परिणाम रहित भी नहीं हो गये हैं। यह पाटा या सामने वाली दीवार इस तथ्य से पूर्णतः तटस्थ हैं कि दुनिया में क्या हो रहा है। ये पूर्ण उदासीन हैं। इन्हें कोई मतलब नहीं दुनिया से। इनमें राग-द्वेष, शुभ-अशुभ के भाव भी नहीं बन रहे हैं। इनसे कोई अंतर नहीं आता है। कवि कहते हैं कि हम उदासीनता का भाव कूटस्थ, नित्य या जड़ के रूप में ग्रहण नहीं करें। वैशाषिक दर्शन मानता है कि जब आत्मा पूर्ण विकास या मुक्ति की अवस्था को प्राप्त करता है तब उसका ज्ञान, सुख आदि से कोई संबंध नहीं रह जाता। लेकिन कवि की मान्यता ऐसी नहीं है क्योंकि जिसकी परिणाम रहित अवस्था है वह वस्तुतः सत् नहीं है। जैन सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक द्रव्य में परिणमन स्वीकार किया गया है। उत्पाद, व्यय और धौव्य, ये तीन अवस्थाएँ स्वीकृत हैं तब निश्चित है कि परमात्मा या सिद्ध में भी परिणमन होता है। कवि ने इसी परिणमन या उदासीनता को स्पष्ट किया है। करुणा, तीक्ष्णता और उदासीनता परस्पर विरोधी गुण हैं। करुणा और कठोरता प्रवृत्ति के प्रतीक हैं और उदासीनता निवृत्ति की। प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों एक साथ कैसे रह सकते हैं? स्पष्टीकरण किया है- सर्वजन्तु हितकरणी करुणा। प्रभु के भीतर करुणा का निझर या स्रोत बह रहा था। उन्होंने प्रत्येक वाणी को आत्मवत् मानकर करुणा भाव की व्याख्या की थी- सर्व भूयप्प भूयस्स सम्मं भूयाइ पासओ।

सभी प्राणियों को आत्मा के तुल्य मानना करुणा भाव का प्रतिफल

है। दूसरे अर्थों में कह सकते हैं कि प्रत्येक के साथ करुणा-भाव जोड़ने से पूर्व सबसे पहले अपनी आत्मा पर करुणा की जाये। अपनी आत्मा पर करुणा का तात्पर्य क्या है ? क्या आप अपने आप पर करुणा करते हैं? यदि प्राणी सबसे ज्यादा किसी का उपधात करता है तो अपनी आत्मा का। जब तक अपनी आत्मा पर उपधात नहीं होगा वह दूसरे पर भी आधात नहीं करेगा। जब कोई व्यक्ति किसी की हत्या करता है तब सबसे पहले हत्या के विचार उसके भीतर अंकित होते हैं, उसके भीतर हत्या का नक्शा बनता है। इस प्रकार वह पहले अपनी चेतना पर आधात करता है फिर बाहर आधात होता है। इसी प्रकार करुणा का भाव सबसे पहले अपनी आत्मा के लिए उद्भूत होता है। आत्मा के प्रति अनुकम्पा के विचार बनते हैं तो अशुभ अध्यवसाय एवं मन-वचन-काया की अशुभ प्रवृत्तियों की ओर गति रुकती है और शुभ में प्रयाण हेतु तत्पर होती है। यदि हमने अपनी आत्मा की अनुकम्पा कर ली तो फिर दुनिया के किसी भी प्राणी का बुरा हम नहीं करेंगे। मनोविज्ञान भी मानता है कि अपराध को रोकना है तो अपराध भाव को रोको। पर प्रभु महावीर इससे भी ऊँचा सिद्धांत देते हैं। वे कहते हैं- मिति में सब्व भूएसु, जहाँ कोई दूसरा हो ही नहीं, वहाँ अपराध कौन और किसके प्रति करेगा ? स्थानांग में भी कहा गया है- ‘एगे आया’। वेदान्त कहता है- ‘एगोहं’। बात एक ही है परन्तु प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग कोण से उसे देखता है। केवल एक ही कोण से देखने वाले को वहाँ अलगाव या भिन्नता देखेगी। इसे एक दृष्टांत द्वारा समझें। एक राजा ने कई चित्रकारों को एकत्र किया और कहा- मेरी एक सत्य यथार्थ और सुन्दर तस्वीर बनाओ। जो तीन बड़े माने हुए चित्रकार थे, उन्होंने राजा का चित्र बनाने की तैयारी की। वे चित्र बनाकर यथासमय उपस्थित भी हुए पहले चित्रकार ने चित्र उपस्थित किया। देखते ही राजा की त्यौरियाँ चढ़ गई, गुस्सा आ गया। राजा ने कहा- तुमने चित्र में यथार्थ तो अंकित किया पर यह सुन्दर नहीं है। वास्तव में राजा काना था, चित्रकार ने वैसा ही अंकित कर दिया था। यथार्थ तो था पर सुन्दर नहीं था क्योंकि उससे राजा का अपयश फैलता।

दूसरा चित्रकार उपस्थित हुआ। उसने चित्र में राजा की दोनों आँखें अंकित की थी। राजा ने कहा- तुम चापलूस हो, सुन्दर दिखाने के लिए तुमने यथार्थ को छोड़ दिया। यथार्थ नहीं होने पर भी यथार्थ में घटित करना चापलूसी है। तुमने कला के साथ न्याय नहीं किया है। राजा ने दोनों को यथायोग्य दण्ड दिया। तीसरे चित्रकार ने भी चित्र प्रस्तुत किया। उसे देखकर राजा मुग्ध हो गया और उस चित्रकार को बहुत-सा इनाम दिया। उसने यथार्थ को सुन्दरता से उकेरने का प्रयत्न किया था। क्योंकि उसने मुख के एक पक्ष का ही चित्रण था, इसलिये दूसरी आँख को, जिससे वह काना था; दिखाने की आवश्यकता ही नहीं थी। उसने राजा को शिकार खेलते हुए घोड़े पर बैठे दृश्य का अंकन किया थाजिसमें राजा की एक ही आँख दिखाई गई थी, दूसरी चित्रित ही नहीं की गई। इस प्रकार कटु यथार्थ के चित्रण से उसने स्वयं को सुन्दरतापूर्वक बचा लिया। अस्तु, कवि कह रहे हैं कि आत्मा की अनुकम्पा से परमात्मा में वास्तव में तो करुणा का निर्झर बर रहा है परन्तु करुणा के साथ उन्हें कठोर भी बनना है, तभी वे अनुकम्पा कर पाएंगे। कठोर बनने की बात-“कर्म विदारण तीक्ष्ण रे” अर्थात् कर्म-विदारण करने के लिए, शत्रु का हनन करने के लिए, कठोरता एवं तीक्ष्णता की जरूरत होती है। कवि प्रभु के इन गुणों का चिंतन करते-करते मुग्ध हो गया है और गा उठता है-

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी, विविध भंगी मन मोहे रे ॥

ऐसे शीतल जिनपति हमारे ऊपर कृपालु हों इसके लिये यह आवश्यक है कि हम प्रमाद छोड़ें। क्योंकि हमारा जीवन असंस्कारित है। हम करुणा के साथ कठोरता में भी बहें। परन्तु कठोरता में भी ऐसे कठोर नहीं बनें कि आत्मा के गुण ही नष्ट हो जायें। कठोरता ऐसी हो जो आत्मा की अनुकम्पा के लिए सहायक हो, अनुकम्पा को रोकने वाली न हो। करुणा की जो धारा प्रकट हुई हो उसे अवरुद्ध करने की स्थिति में न ले जायें। प्रभु की तीक्ष्णता उन धाराओं को रोकने वाली नहीं बल्कि विशेष रूप से प्रवाहित करने में सहयोगी है।

कवि ने कहा है- प्रभु आपकी करुणा भी अजब है, कठोरता भी गजब की है। मिश्री कठोर होती है पर उसमें माधुर्य होता है, चरकापन नहीं। उसका माधुर्य ही अंतर तक पैठने वाला होता है। प्रभु की कठोरता भी वैसा ही माधुर्य देने वाली है। जब हम प्रभु के गुणों का चिन्तन करते हैं तब अपने भीतर की असंस्कारित अवस्था का हमें बोध होता है। एक व्यक्ति एम.ए. पास कर चुका है, पी.एच.डी. की उपाधि भी उसने प्राप्त कर ली है तो क्या इसी से वह संस्कारित माना जाये ? प्रभु ने कहा है- मात्र अध्ययन कर लेने से कोई संस्कारी नहीं हो जाता। जो अपनी चित्तवृत्तियों का गुलाम है, जिस पर उसकी चित्त वृत्तियाँ हावी हैं, वह असंस्कारित ही है। इसी बात को अनाथीमुनि के माध्यम से समझें। अनाथीमुनि ने जब कहा- ‘राजन् तुम अनाथ हो।’ तो क्या राजा के पास आधिपत्य नहीं था ? नहीं ! बल्कि वहाँ चित्तवृत्तियों का उन पर आधिपत्य था। इस प्रकार वे चित्तवृत्तियों के दास थे। दास नाथ कैसे हो सकता है ? अनाथ-सनाथ का भेद नहीं किया तब तक नाथ बनकर नहीं चल सकते। आपने शालिभद्र का नाम सुना होगा। नाम सुनते ही एक भावना उत्पन्न होती है- दीपावली का खाता लिखना है तो लिखा जायेगा- शालिभद्र तणी रिद्धि। रिद्धि नहीं तो कौन पूछता है ? आप रिद्धि के कारण पूछ जाते हैं, पर ज्ञानीजन रिद्धि को ठोकर मारने के कारण पूछे जाते हैं। जिस पुण्य की प्रकर्षता का जो योग था वह पुण्य कैसे अर्जित किया ? दान दिया था सुपात्र को, कितनी भावना से। हमार पुण्य की ओर कितना रुझान है ? वे महलों में थे तो यह भी नहीं मालूम था कि पूर्व किधर है और पश्चिम किधर ? सूर्य के उदय अस्त का भी पता नहीं था। आज भी कई व्यक्तियों को उदय-अस्त का पता नहीं रहता, चाहे दिन हो या रात कभी भी खा-पी लेते हैं। बस खाने-पीने का ही ध्यान रहता है। जो प्रत्याख्यान करते हैं उन्हें तो ज्ञान रखना होता है। हाँ तो शालीभद्र की माता ने संदेश दिया जागृत हो, सम्राट श्रेणिक पधार रहे हैं। उत्तर मिला- माँ मेरी क्या जरूरत है ? मोल-भाव करके खरीद लो। वे तो व्यापार के चक्कर में भी नहीं पड़े थे। आज तो व्यक्ति व्यापार के चक्र में ही दिन-रात घूमता रहता है। माता ने कहा- नाथ आये हैं। सुनते ही

करन्ट लगा- आज तक तो सभी मुझे नाथ कहते थे, मेरी धर्मपत्नियाँ, दास-दासियाँ सभी, पर आज माता किसे नाथ कह रही है ? वे नाथ हैं तो लगता है मेरी पुण्यवानी में कसर है इसलिए वे नाथ है। मैं नाथ बनूँगा। प्रभु कह रहे हैं- असंस्कृत जीवन है, प्रमाद मत करो। चित्तवृत्ति हावी होकर प्रमाद में घसीट लेगी तो उचित-अनुचित का विवेक भी नहीं रहेगा। जीवन गर्त में चला जायेगा। बोध जागा, प्रमाद हटा तो चित्तवृत्तियों को हल्का-सा आभास होगा। आभास हुआ तो फिर हम इन्हें पछाड़ कर आत्मभाव में, नाथ भाव में उपलब्ध हो सकते हैं, संस्कारित बन सकते हैं। जो वृत्तियों के दास हैं वे संस्कारित नहीं हैं।

एक प्राईवेट कॉलेज में उम्र से परिपक्व प्रिंसिपल थे। वैसे उम्र आ चुकी थी, पर प्रायवेट संस्था थी अतः रिटायर नहीं हुए थे। यदि सरकारी संस्था होती तो अब तक रिटायरमेन्ट हो चुका होता। वे क्षमतावान थे, शरीर से नहीं बल्कि विल-पावर से। कमेटी का कोई भी सदस्य सहसा उनके सामने बोलने का साहस नहीं कर पाता था। प्रोफेसरों ने सोच-विचार किया कि इनकी वजह से किसी को प्रमोशन का चांस ही नहीं मिल रहा है। ये हटें तो दूसरों का भी प्रमोशन हो, पर सब बेबस थे। गुपचुप बातें होने लगी। प्रस्ताव किया गया कि इन्हें कुर्सी से हटाना चाहिए। कुछ प्रोफेसरों ने मिलकर प्रस्ताव पास कर लिया। एक प्रोफेसर जो काफी पुराना था और प्रिंसिपल के पश्चात् जिसके प्रमोशन का चांस था, उससे भी मिलकर प्रलोभन दिया गया कि यदि प्रिंसिपल को हटा दें तो सत्ता हमारे हाथ होगी और आपको प्रिंसिपल की कुर्सी पर बिठाया जायेगा। वह भी उनके साथ हो गया। योजना बनाई गई। दूसरे दिन सभी ने एक साथ आकर प्रिंसिपल के कमरे का ताला तोड़ा और प्रिंसिपल की कुर्सी पर उस प्रोफेसर को बिठा दिया। किसी हितचिन्तक व्यक्ति ने सलाह भी दी थी, देखो ऐसा मत करो तुम सफल नहीं हो सकोगे, तुम्हारी कमजोरियाँ सभी बखूबी जानते हैं। उन्होंने एक न सुनी। चपरासी ने यह सब देखा तो प्रिंसिपल महोदय को फोन पर सूचना दे दी कि ऐसी-ऐसी बात हुई है।

उन्होंने कहा- कोई बात नहीं है और वे तो अपने प्रतिदिन के निश्चित समय 11 बजे कॉलेज पहुँचे। अपने रूम की ओर बढ़े और शान से प्रवेश किया। प्रोफेसर को ध्यान रहा नहीं, झट उठा और नमस्कार करते हुए कहा- सर विराजिये। प्रिसिंपल ने कुर्सी सरकाई और बैठ गये। वह प्रिंसिपल बना प्रोफेसर अन्य कुर्सी पर बैठ गया। मित्रों ने प्रिंसिपल से कहा कि इन्होंने तोड़-फोड़ की ओर आपने सूचना नहीं दी। प्रिंसिपल ने कहा- इनके लिए सूचना की जरूरत नहीं, मैं अकेला ही काफी हूँ। वे अपनी कुर्सी पर बैठ गये। यह तो सत्य रूप में घटित घटना है और हमारी आँखें खोलने वाली है। जैसा जबरदस्त प्रिंसिपल का विल-पावर था वैसे ही यदि हमारा विल पावर भी बने तो चित्तवृत्ति हम पर हावी नहीं हो सकेगी। परिणामस्वरूप जीवन भी संस्कारित हो सकेगा। यथार्थ में विल पावर मजबूत होगा तो विचार सही दिशा में बढ़ेंगे। इसलिये यदि जीवन को संस्कारित करना है तो वृत्तियों से ऊपर उठो।

संस्कारों पर क्षेत्र का भी प्रभाव पड़ता है। एक महात्मा एक गाँव में पहुँचे, पाँच-सात दिन रुके, धर्मोपदेश दिया। जब वे विहार करने लगे तो गाँव वाले पहुँचाने आये। गाँव की सीमा पर पहुँचकर सबने नमस्कार किया और कहने लगे- ‘महात्मन् जाते-जाते कुछ आशीर्वाद दे जाईये।’ महात्मा ने कहा- ‘तुम सब बिखर जाओ, उजड़ जाओ।’ महात्मा तो चले गए, पर वे मन ही मन विचार करने लगे। कैसे महात्मा थे जो ऐसा आशीर्वाद दिया ? महात्मा अगले गाँव में पहुँचे। वहाँ भी कुछ दिन रुकना हुआ। पूर्व गाँव वाले भी दर्शनार्थ पहुँचे। महात्मा का विहार हुआ, दोनों ग्रामवासी पहुँचाने चले। ग्राम सीमा पर उन्होंने निवेदन किया- गुरुदेव आशीर्वाद देकर पधारिये। महात्मा ने कहा- ‘तुम सब बसे रहो।’ अरे ये महात्मा अजीब हैं, पूर्व गाँव वालों ने सोचा- हमें तो कहा उजड़ जाओ और इन्हें कहते हैं- ‘बसे रहो।’

उनमें एक सभ्य व्यक्ति था जो संस्कारित था। पढ़ा-लिखा तो नहीं था, किन्तु चित्तवृत्तियों की उसकी गुलामी हट चुकी थी। उसने कहा- तुम लोग संशय मत करो। संशय से श्रद्धा भ्रष्ट होती है। समाधान कर लो।

समाधान नहीं किया तो न इधर के रहोगे न उधर के । सबको बात जंच गई । महात्मा जब आगे के गाँव में पहुँचकर बैठे तो निवेदन किया- भंते ! हमारी एक जिज्ञासा है और उन्होंने अपना प्रश्न रख दिया । महात्मा के चेहरे पर मुस्कान के साथ गंभीरता झलकने लगी । कहने लगे- देवानुप्रिय, मैंने जो बात कही है वह ‘सर्वजन्तु हितकरणी करुणा’ इस भाव से कही है । आप जानते हैं कि तीर्थकर भी करुणा से ही उपदेश देते हैं । उसमें जो कठोरता होती है तो वह भी करुणा के पोषण के लिए ही होती है । इसलिए मैंने कहा- उजड़ जाओ । तुम सोचोगे उजाड़ने की बात और करुणा ? यह कैसे संभव है ? मैंने देखा तुम्हारे गाँव में सौ सैणों का एक मत- प्रत्येक व्यक्ति सजग है । तुम उजड़ कर जहाँ भी जिस गाँव में भी जाओगे, अपनी सुवास ही फैलाओगे । सौ व्यक्ति भी बिखरे तो सौ गाँवों को संस्कारित करोगे । लेकिन इस गाँव में संगठन नहीं है, प्रतिदिन झगड़े होते हैं । मैंने देखा इस गाँव में कलह की स्थिति है तो यह आग अन्यत्रा न फैले । एक घर की आग उसी को बरबाद करेगी, अन्य गाँव तो सुरक्षित रहेंगे । इसलिए ये एक जगह बसे हुए ही ठीक है । लोगों ने विचार किया कि गुरुदेव ने तो कितना अच्छा आशीर्वाद दिया था, पर हमें बोध नहीं हुआ । समाधान लिया तो वह हितकारी हो गया । इसके विपरीत यदि मन में ही अहं होता तो विचार कलुषित होते । वह स्थिति घातक होती ।

यह बात भली प्रकार समझ ली जानी चाहये कि संशय की स्थिति कांक्षा मोहनीय में प्रवेश करा सकती है और यदि दर्शन मोहनीय का उदय भाव हो गया तो वह आगे मिथ्यात्व में ले जायेगी । मिथ्यात्व के 5 भेद, 15 भेद और 25 भेद भी कहे गये हैं । यह भी कहा गया है कि सिद्ध की, अरिहंत की, संघ की, साधु की आशातना की तो वह मिथ्यात्व में प्रयाण कराने वाली होगी । वह संस्कार को नष्ट कर असंस्कार में प्रवेश कराने वाली होगी । संस्कार पर स्थान का प्रभाव पड़ता है और संस्कार वंशानुगत भी होते हैं । संस्कार वंश परम्परा से भी चले आते हैं । यदि हमें

अपने भीतर के संस्कारों की पौध को सुरक्षित रखना है, आत्मा को परमात्मा की ओर बढ़ाना है तो प्रमाद छोड़ना होगा। इसके साथ ही प्रभु ने कहा है-

खुड़डेहिं सह संसगिं, हासं कीडं च वज्जए।

उत्तराध्ययन सूत्र 1/9

क्षुद्र लोगों के साथ संसर्ग नहीं करना चाहिए, न उनके साथ हंसी-माजक एवं क्रीड़ा करनी चाहिए। क्योंकि ओछी साख वाले के साथ बैठने से ओछे संस्कार आयेंगे और उन्नत साख वाले के साथ उन्नत संस्कार आयेंगे। यह प्रभु का निर्देश है।

एक पंडितजी जा रहे थे। मार्ग में एक व्यक्ति मिला, वह भी साथ हो गया। पंडितजी ने सोचा- एक से भले दो, रास्ता कट जायेगा। मार्ग में पंडितजी ने कहा- ये पलास के फूल हैं। रूप में सुन्दर पर गुण नहीं। साथ वाला कहने लगा- यह पलास नहीं गुलाब है। पंडितजी ने कहा- गुलाब कांटों में होता है यह पलास ही है। उस व्यक्ति ने डंडा उठाया- मैंने कह दिया यह गुलाब है बोलो है कि नहीं। पंडितजी ने जान बचाना आवश्यक समझा और कहा- अच्छा भाई ! गुलाब है। यदि ऐसी संगति कर ली तो ‘हाँ’ में ‘हाँ’ मिलानी पड़ेगी। चित्तवृत्तियाँ हावी हो जावेगी, चेतना उजागर नहीं होगी। जीवन संस्कारित था अर्हन्नक श्रावक का। देव का भयंकर उपसर्ग- एक बार कह दे- धर्म झूठ है, नहीं तो इस जहाज के टुकड़े-टुकड़े कर दूँगा। उसने जहाज को आकाश में उठा लिया- ‘देखो माल चला जायेगा, तुम समुद्र में समा जाओगे।’ साथ वालों ने कहा- कह दो, कहने में क्या लगता हैं ? हाँ कोई ऐसा भी सोच सकता है कि एक बार कह दें फिर मिच्छामि दुक्कड़ दे देंगे। पर अर्हन्नक दृढ़धर्मी था। उसने कहा- पुद्गलों के पीछे देव-गुरु-धर्म की अवज्ञा ? अरे पुद्गल तो विनाशकर्मी है। देव-गुरु-धर्म अविचल हैं। पुद्गल तो छाया है। तन रहा तो छाया दौड़ी आयेगी। मैं अविचल रहूँगा- वह ऐसा इसलिये कह सका,

मृत्यु के भय में भी अविचल इसलिये रह सका, क्योंकि उसका जीवन सुसंस्कारों से युक्त था। ऐसे सुसंस्कार विकसित करना, उन पर दृढ़ रहना और पुद्गलों के परिणामों को समझकर आत्मकल्याण हेतु तत्पर रहना, इस जीवन का इष्ट होना चाहिये। यह जीवन हमें इसलिये मिला है कि इसे सुसंस्कारों से सुसज्जित कर मोक्ष का माध्यम बना सकें।

दि. 04.10.96



सच्ची करुणा का स्वरूप

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी, विविध भंगी मन मोहे रे ।
करुणा, कोमलता, तीक्षणता, उदासीनता सोहे रे ॥

भगवान शीतलनाथ करुणा के अजस्त्र स्रोत हैं । उनकी विविध भंगी, सर्वजन्तु हितकरणी, पर दुःख छेदन करणी, वह करुणा सभी का मन मोह लेती है । ऐसे उपकारी जिनपति के प्रति अपने श्रद्धाभाव को प्रार्थना की कड़ियों में बाँधकर कवि आनन्दधनजी कहते हैं-

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी, विविध भंगी मन मोहे रे ।
करुणा, कोमलता, तीक्षणता, उदासीनता सोहे रे ॥

सर्वजन्तु हितकरणी करुणा, कर्म विदारण तीक्षण रे ।
हान-दान रहित परिणामी, उदासीनता वीक्षण रे ॥

तनिक चिन्तन करें कि कवि ने कितने अर्थगर्भित शब्दों का चयन किया है । जिनपति की करुणा को पर दुःख छेदनकारी वृत्ति के रूप में प्रस्तुत किया है । तनिक विचार करें कि हम करुणा किसे मानते हैं ।

कहा जाता है- दूसरे के दुःख को दूर करना कल्याण है । एक व्यक्ति दुःखी हो रहा है, उसके दुःख का कारण है मन की इच्छा अथवा अभिलाषा का पूर्ण नहीं होना । तो क्या उसकी अभिलाषाओं की पूर्ति करना अनुकम्पा है ? एक व्यक्ति किसी अन्य को अपना शत्रु मान रहा है, वह कहता है- इसके रहते मैं दुःखी हो रहा हूँ, अतः इसका नाश हो जाये । तो क्या परमात्मा चाहेंगे कि उसका दुःख दूर करने के लिए उसके

शत्रु का वध कर दिया जाये ? तो फिर उस अन्य व्यक्ति को जो दुःख हुआ है, उसकी जो आर्त पुकार है उसे कैसे पूरा किया जा सकेगा ? इस स्थिति पर किंचित् विस्तृत परिपेक्ष में विचार करें।

व्यक्ति दुःखी क्यों है, दुःख का कारण क्या है ? दुःख के अनेक कारण हो सकते हैं, पर मूल कारण है- व्यक्ति ‘पर’ से दुःखी होता है। अपने पड़ौसी को बहुत सम्पन्न देखा, दूसरे व्यक्ति को अपने से आगे बढ़ा हुआ देखा, तो व्यक्ति दुःखी हो गया। ये सारे भले ही व्यक्ति की दृष्टि से दुःख के कारण हो, पर प्रभु ने इन्हें दुःख नहीं कहा है। तीर्थकरों ने कहा है- दुःख का मूल कारण है तुम्हारा असंस्कारी जीवन। इस असंस्कारी जीवन के कारण ही तुम दुःख के मूल स्रोत को नहीं पहचान पा रहे हो। यदि उसे पहचानना है तो खोज करो कि यथार्थ में दुःख का मूल स्रोत कहाँ है। कवि ने उसी स्रोत को उद्घाटित करते हुए कहा है-‘पर दुःख छेदन इच्छा करुणा, अर्थात् पर द्वारा जो दुःख उत्पन्न हुआ है उसका छेदन करने की इच्छा जागृत होना यही करुणा है। ‘पर कौन है ? हम ‘पर’ मानते हैं दूसरे व्यक्ति को, पड़ौसी को, शत्रु को। संक्षेप में कहें तो आत्मा से भिन्न जो भी पदार्थ हैं अथवा जिन कारणों से आत्मा दुःखी है उन्हें हम ‘पर’ मान लेते हैं। परन्तु मुख्य कारण है हमारे कर्म। इस प्रकार कर्मों को दुःख की संज्ञा दी गई है। कर्मों का जब तक औदयिक भाव है व्यक्ति दुःख में रहेगा। प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या साता वेदनीय रूप पुण्य प्रकृति के उदय से व्यक्ति सुखी नहीं होते हैं ? उत्तर है, साता वेदनीय भी उसे सुखी नहीं बना सकते। वह तो शहद-लिपटी तलवार है, जिसे चाटने पर व्यक्ति सोचता है कि सुख मिल रहा है, पर वास्तव में उसके पीछे दुःख की काली छाया छिपी होती है। वहाँ उसे सुख-शांति नहीं मिल सकती है। इस संदर्भ में नन्दीसूत्र के बुद्धि से संबंधित आख्यान पर दृष्टिपात करें।

एक राजा ने योग्य मंत्री का चयन करने के लिए कुछ परीक्षाएँ लीं। उसने एक बकरी देते हुए कहा कि इसे खिलाना-पिलाना है और इसका

जीवन व्यवस्थित रखना है, परन्तु इसका वजन नहीं बढ़ना चाहिए। लोग विचार में पड़ गए कि ऐसा कैसे संभव है। पर नन्दी ग्राम के एक बालक ने कहा- चिन्ता करने की क्या बात है मैं इसका ध्यान रखूँगा। वह बकरी को खूब खिलाता-पिलाता और फिर सिंह की खाल उसके सामने इस प्रकार स्थापित करता मानो साक्षात् सिंह सामने खड़ा हो। बकरी उससे भयभीत हो जाती। हालांकि वह दिनभर खाती पर भोजन का शरीर में सही परिणमन नहीं हो पाता। यद्यपि खाना-पीना उसके लिए साता रूप में था पर उसके साथ ही सिंह की छाया भी जुड़ी हुई थी, जिसके कारण सुख का भाव फलित नहीं हो पाता था। इस प्रकार स्पष्ट है कि जिस सुख और साता के पीछे दुःख की काली छाया है वह सुख भी दुःख है। वह सुख नहीं मात्र थोड़ी देर के लिए भुलावा है, मन का बहलावा है। डॉक्टर ऑपरेशन करते समय अंगों को छेदन-भेदन करता है तब क्या पीड़ा होती है ? यूं तो थोड़ा-सा चक्कू लग जाये तो वेदना होती है। ऑपरेशन करते समय भी वेदना कम नहीं होती, पर डॉक्टर बेहोशी का इंजेक्शन लगा देता है या दवा का प्रयोग कर देता जिसके कारण जो अंग चीरा जा रहा है वह संवेदना शून्य हो जाता है। परिणामस्वरूप वेदना की अनुभूति मरीज को थोड़ी देर के लिए नहीं होती। दवा के प्रयोग से जिस प्रकार वेदना भूला दी जाती है उसी प्रकार साता वेदनीय या पुण्यकर्म के उदय से या क्षयोपशम से जो सुखानुभूति होती है वह थोड़े समय के लिए भुलाने या बहलाने का ही काम करती है। यदि ऐसा अल्पकालीन संतुलन न बने तो व्यक्ति पागल हो जाये। दुःख के साथ ऐसा जो थोड़ा-सा सुख मिला रहता है उसी से व्यक्ति बंधा रहता है। उससे अपने को अलग करने का प्रयास नहीं करता बल्कि आगे जाल बुनता चला जाता है।

कवि आनन्दघनजी कह रहे हैं कि ‘पर’ से जो दुःख व्याप्त हो गया है उस दुःख के छेदन की इच्छा पैदा होना ही करुणा है। ऐसी इच्छा पैदा होना भी कठिन है क्योंकि हम में कायरता नहीं हैं इसलिये कोई दुःखी आया तो उसे दो रूपये पकड़ा दिए, अच्छा अब चला जा यहाँ से बस,

हमारी करुणा पूरी हो गई। अनुकम्पा का बस इतना ही स्वरूप नहीं है। जहाँ ‘स्व’ अनुकम्पा, ‘पर’ अनुकम्पा कहीं गई है वहाँ अनुकम्पा का इतना ही स्वरूप हो तो ‘स्व’ अनुकम्पा क्या होगी ? यद्यपि यह भी करुणा का ही रूप है क्योंकि कहा जाता है- ‘दुःखी देख करुणा करो’, पर सबसे पहले करुणा का उद्गम स्वयं के लिए होना चाहिए। यदि ‘स्व’ के प्रति करुणा नहीं है तो ‘पर’ के प्रति करुणा कैसे हो सकती है ? महाभारत का प्रसंग है। त्रिखण्डाधिपति कृष्ण वासुदेव पाण्डवों की ओर से संधि वार्ता हेतु दुर्योधन के पास पहुँचे। उन्होंने प्रस्ताव रखा कि पाण्डवों को पाँच गाँव ही दे दो तो उनसे ही वे गुजारा कर लेंगे। पर दुर्योधन ने कह दिया पाँच गाँव तो क्या सुई की नोक जितनी भूमि पर भी समझौता नहीं हो सकता। अब तो जो होगा रणभूमि में होगा। तब निश्चित हो गया कि कौरवों और पाण्डवों के बीच युद्ध होगा ही। कृष्ण ने जब देखा कि दुर्योधन मानने वाला नहीं है तो वे द्वारिका चले गये और अपने कार्य में लग गये। दुर्योधन और अर्जुन ने विचार किया कि युद्ध करना है तो मित्र राजाओं को भी आमंत्रण देना चाहिए। दुर्योधन ने सोचा कि यदि कृष्ण वासुदेव को अपने पक्ष में नहीं किया तो चाहे मेरी सारी सेना और मित्र राजाओं की सेना भी जुड़ जाये तो भी मुकाबला नहीं हो पायेगा। मुझे प्रयत्न करके कृष्ण को साथ करना होगा, तब कृष्ण के साथ ही कृष्ण की सारी सेना का सहयोग भी मुझे मिल जायेगा। अतः वह कृष्ण के पास पहुँचा। उस समय कृष्ण सोये हुए थे। दुर्योधन ने विचार किया मैं निमंत्रण देने आया हूँ, विजय की कामना से आया हूँ तो पैरों की ओर कैसे बैठूँ। अतः वह सिर की ओर ही बैठ गया। अर्जुन भी पहुँचे। देखा कृष्ण विश्राम कर रहे थे। मुझे इंतजार करना चाहिए। मन में सोचने लगे मैं तो इनके चरणों की उपासना करने वाला हूँ और कृष्ण के प्रति श्रद्धाभाव होने के कारण वे चरणों की तरफ बैठ गए। दोनों प्रतिक्षारत थे। कृष्ण जागकर बैठे तो स्वाभाविक था कि पहले सामने अर्जुन ही दिखते। अर्जुन सामने दिखे तो कृष्ण ने पूछा- अर्जुन अभी कैसे ? भगवन् जब युद्ध निश्चित है तो मैं आपकी सहायता की अपेक्षा लेकर

आया हूँ। दुर्योधन ने सुना, अरे बाजी तो हाथ से जा रही है। मैं भी सहायता के लिए आया हूँ, कहीं वंचित न रह जाऊँ। अतः उन्होंने भी कृष्ण से कहा- मैं भी सहायता चाहता हूँ। कृष्ण पीछे मुड़े तब दुर्योधन को देखा। उन्होंने कहा- जब तुम दोनों आये हो तो दोनों की सहायता करना मेरा धर्म है। पर एक बात है- एक ओर मेरी सेना रहेगी और एक ओर मैं अकेला रहूँगा। इसके साथ ही एक शर्त यह भी है कि मैं शस्त्र नहीं उठाऊंगा। दुर्योधन ने विचार किया कि युद्ध में मुझे कोई मर्ति थोड़ी बैठानी है, युद्ध में तो चाहिए रणबांकुरे योद्धा, जो अपनी शक्ति का परिचय दे सके। उसने कहा- मैं आपको कष्ट देना नहीं चाहता, अपनी सेना ही मेरे साथ कर देवें। कृष्ण ने कह दिया- अच्छा, सेना तुम्हारे साथ रहेगी। फिर अर्जुन से कहा- तुम अब बोलो। अर्जुन ने कहा- भगवन्! आपने जब दो भाग कर ही दिए हैं और आप स्वयं अनुग्रह कर रहे हैं तो फिर मैं और क्या मांगूँ क्या सोचूँ। मुझे आपके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए। आप ही अनुग्रह करें। अर्जुन ! कृष्ण ने चेताया मैंने कह दिया कि मैं शस्त्र नहीं उठाऊंगा। यह तो एक प्रसंग है जो हजारों वर्षों पहले घटित हुआ था। पर इसमें जो संदेश है वह यह है कि कृष्ण ने पर दुःख छेदन कि इच्छा से करूणा का स्रोत बहाया।

हम अपनी ओर देखें। भीतर की आँखों से भीतर चल रहे उस टी. वी. सीरियल को देखें, हमारे भीतर भी यह महाभारत घटित हो रहा है। कौरव और पाण्डव दोनों हमारे भीतर है। चित्त की जो अशुभ वृत्तियाँ हैं जो शरीर पोषण में ही संलग्न हैं और जिन्होंने आत्मा को भुला दिया है, उन्हें कौरव समझिए। शुभ वृत्तियों रूपी पाण्डव कहते हैं हमें भी कुछ अधिकार दो, तुमने पूरे पर अधिकार कर लिया है। पर कौरव वृत्तियाँ अनीति मार्गी हैं। जैसे भी हो शरीर का पोषण होना चाहिए। अनीति अर्थात् अन्याय। तो हम देखें कि अपने साथ हम अन्याय कर रहे हैं या नहीं। एक आत्मा है और दूसरी ओर शरीर है। शरीर के लिए हम कितने ही घंटे बरबाद कर देते हैं, पर आत्मा के लिए कितना समय देते हैं ?

दोनों के प्रति हम नीति धरातल पर हैं या अनीति के ? भीतर के महाभारत को नहीं देखा इसीलिए प्रभु कह रहे हैं- असंख्यं जीविय मा पमायए- तुम्हारा जीवन असंस्कारित है, प्रमाद मत करो । तुमने अब तक शरीर का ही पोषण किया है, दुर्योधन वृत्ति को ही बढ़ाया है । पाण्डवों के प्रति, आत्मा के प्रति विचार नहीं किया है । पर ये वृत्ति ज्यादा दिन नहीं टिकेगी, अधिक समय नहीं चलेगी । कृष्ण को, अर्जुन को हमारी तरफ से युद्ध करना होगा । आत्मा उनके साथ होगी तो फिर काम, क्रोध, ईर्ष्या, मद, मत्सर की वृत्तियों को परास्त करना कठिन नहीं होगा । आत्मा बलवान है । चाहे वह हथियार न भी उठावे पर यदि वह सक्रिय हो जाये, उसकी एक दृष्टि भी धूम जाये तो वो कुवृत्तियाँ आत्मा को पराभूत नहीं कर पायेगी, वे सारी की सारी वृत्तियाँ क्षीण हो जायेंगी । लोग मानते हैं अतः कहते हैं कि परमात्मा का स्मरण करो, संकट टल जायेगा । दुःख में ही स्मरण क्यों होता है ? इसलिए कि उस समय व्यक्ति चारों और से निराश हो गया होता है । जब व्यक्ति को कहीं आश्रय नहीं मिलता तब वह परमात्मा की शरण स्वीकार करता है । अर्जुन ने कृष्ण की शरण ली, उसने सेना से नहीं कृष्ण से लगाव किया । चेतना जब तक सेना को चाहेगी तब तक उथल-पुथल रहेगी, असंतुलन बना रहेगा । पर जब वह कृष्ण रूपी आत्मा को अपना सम्बल बना लेगी तब फिर वहाँ कोई संशय नहीं रहेगा । एक परम-आत्मा का आश्रय ही प्राप्त कर लेना पर्याप्त है- एकै साधे सब सधे, सब साधे सब जाय ।

इसलिए कहा है कि एक को साध लो । एकनिष्ठ बनो, क्योंकि जब तक डोलायमान स्थिति है, तब तक सफलता नहीं मिलेगी । जब पूर्ण समर्पण होगा आत्मा के प्रति तथा परमात्मा के प्रति, तब जो भी दुःख होगा वह दूर हो जायेगा । अहमदाबाद के रोशनलालजी मेहता के साथ ऐसा ही घटित हुआ था । प्रसंग आँखें खोलने वाला है । गुरुदेव की कृपा से वे बाल-बाल बच गये । घटना इस प्रकार घटी । वे बता रहे थे- हम यात्रा करते हुए शिखरजी की ओर जा रहे थे । हम पाँच लोग एक कोच

में थे और बिहार का अराजकतापूर्ण क्षेत्र था, जहाँ रोज आपराधिक घटनाएँ घटती रहती हैं। सहसा हमने देखा कि हाथों में शस्त्र लिए हुए अनेक असामाजिक तत्व गाड़ी के दोनों द्वारों से भीतर आ गुसे। रिजर्वेशन डिब्बा था। वे प्रत्येक यात्री को लूटने लगे। यात्री तो काफी थे, पर किसी में साहस नहीं था कि सामना करे। शस्त्र देखकर सभी घबरा रहे थे। आंतक फैलाते हुए वे लुटेरे आगे बढ़ रहे थे। डंडे से प्रहार भी कर रहे थे ताकि कोई भी प्रतिकार का साहस न कर सके। हम पाँच व्यक्ति थे। एक कोच में 6 सीटें होती हैं, एक अन्य भाई भी था। हमने कहा- किनारे की सीट ले लो हम एक साथ हो जायेंगे, पर वह तैयार नहीं हुआ। वे लुटेरे हमारी ओर ही बढ़ रहे थे। मैं तो गुरुदेव के स्मरण में इबू गया, गुरुदेव की छवि में तन्मय हो गया। अन्दर से एक संकप किया- गुरुदेव यदि मैं संकट से उबर गया तो आपके दर्शन करूँगा। एक इसी भावना के अलावा और क्या हो रहा था मुझे कोई भान नहीं था। लुटेरों ने उस व्यक्ति को भी लूट लिया जिससे हमने सीट बदलने का आग्रह किया था। फिर वे हमारी तरफ मुड़े कि अचानक उधर से आवाज आई- ‘इधर आ जाओ उन्हें मैं टटोल चुका हूँ, उनके पास कुछ नहीं है। और हमें छोड़ कर वे चले गये। यह कैसे हुआ ? निश्चय ही श्रद्धा के बल पर। यदि व्यक्ति एकनिष्ठा से जुड़ जाये तो संकट के बादल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। कवि ने भी यही संकेत दिया है कि दूसरों के निमित्ति से जब तक लगाव है तब तक हम दुःखी रहेंगे परन्तु जब परदुःख-छेदन की इच्छा के लिए करुणा का अजस्त्र स्रोत प्रवाहित होगा तभी हम दूसरों पर भी अनुकम्पा कर पायेंगे। तीर्थकर के पास पहुँचने पर हम इसीलिये शांत हो जाते हैं क्योंकि उनके भीतर वह स्रोत हैं।

एक बगीचे में यदि पलाश के ही फूल हैं तो वहाँ सुवास कैसे फैलेगी ? परन्तु यदि बगीचा सुर्गंधित पुष्पों से सम्पन्न है तो वहाँ भीनी-भीनी सुवास स्वतः ही फैल जायेगी। इसी प्रकार करुणा का सौरभ पहले स्वयं में फैले तभी हम दूसरों को सुवास दे पायेंगे। यदि कौरवी वृत्ति से शरीर

पोषण में लगे रहें तो असंस्कारित वृत्ति हमें बुढ़ापे की जर्जर अवस्था तथा मौत के बहुत निकट तक पहुँचा देगी। जरा और मृत्यु से रक्षा करने में कोई समर्थ नहीं होगा। अतः जीवन को असंस्कारित मत रखो। इस संदर्भ में थावच्चा पुत्र की दीक्षा लेने की कथा पर दृष्टिपात करें। माता ने सोचा- मैं पुत्र की दीक्षा का उत्सव धूमधाम से मनाऊँगी। वह कृष्ण के पास पहुँची और कहा- मैं पुत्र का अभिनिष्करण महोत्सव मनाना चाहती हूँ अतः चँवर और मुकुट मुझे देने की कृपा करें। उस समय राजकीय मुकुट व चँवर सिर्फ राजाओं के उपयोग के लिए होते थे या उनकी अनुज्ञा से किसी अन्य को उनके उपयोग करने का अधिकार मिल सकता था। कृष्ण ने कहा- यह अच्छी बात है कि तुम्हारा पुत्र दीक्षा लेना चाहता है। मैंने तो पहले ही अरिष्टनेमि प्रभु से सुनकर घोषणा करा दी थी कि जो भी अपने जीवन को संस्कारित करना चाहे उसे मेरी आज्ञा है। उसके पीछे रही जिम्मेदारियों का मैं वहन करूँगा। उन्होंने थावच्च पुत्र को अपने पास नहीं बुलाया बल्कि स्वयं उसके घर पहुँचे। कृष्ण ने कहा- पहले अच्छी तरह सोच लो, यह दुष्कर मार्ग है। मैं तुम्हारा सहारा बन सकता हूँ पर संयम कोई मामूली बात नहीं है। अभी कुछ नहीं बिगड़ा है। यदि व्यापार की तकलीफ हो तो आजीवन तुम्हारे जीवन का खर्च मैं अपने ऊपर लेता हूँ। मैं तुम्हारी सुरक्षा कर सकता हूँ। थावच्चा पुत्र ने कहा- आप सम्राट हैं, सबकुछ कर सकते हैं, पर यदि दो शत्रुओं से आप मेरी सुरक्षा कर सकते हो तो आपकी बात मान सकता हूँ और दीक्षा का विचार त्याग सकता हूँ। कृष्ण ने कहा- दो क्या मैं तुम्हारे सभी शत्रुओं से तुम्हारी रक्षा कर सकता हूँ। बोलो कौन हैं तुम्हारे शत्रु ? थावच्चा पुत्र ने कहा- जरा और मृत्यु, ये मेरे दो शत्रु हैं। क्या आप इनसे मुझे त्राण दिला सकते हैं। हम जानते हैं कि इनसे कोई नहीं बचा सकता। सम्पत्ति, परिवार, राजा, सेनापति, कोई भी बुढ़ापा और मौत से नहीं बचा सकते। कौरवी वृत्तियाँ काम, क्रोध, मद, मत्सर, ईर्ष्या आदि आत्मा के शत्रु हैं। इन वृत्तियों से बचने के लिए इन्हें शमित करने का प्रयास करना चाहिए। इनके द्वार खुले रखें तो फिर बचाने वाला कौन होगा ? वर्षभर यही करते

रहें पर आज अवसर आया है, आज का दिन कैसा है इस संबंध में गुजरात में कहावत प्रचलित है- ‘आज नो दिन केवो छे, सोनो करता मोंगो छे।’

सोना आपको महंगा लगता है, पर आज का दिन सोने से भी महंगा है। सिर्फ उपभोगों में ही यदि आज का दिन व्यतीत कर दिया तो उद्धार कैसे होगा ? यदि आज के एक दिन को भी कोई सार्थक बना ले तो उसका भविष्य सुधर जाये। कहते हैं-

काल करे सो आज कर, आज करे सो अब ।
पल में परलय होयगी, बहुरि करैगो कब ॥

आज का दिन भी निकल गया और संस्कारों की नींव नहीं डाली तो महल कैसे बनेगा। भले ही कितनी ही दीवारें क्यों न चुन लो। आज के दिन का महत्व ही यदि समझ लें तो जीवन संस्कारित हो सकता है। इसलिये हम जागृत हों। समझें कि जीवन असंस्कारित है और उसे संस्कारित करने का संकल्प लें। एक बार का शुभ संकल्प अनेक जन्मों की भव परम्परा को तोड़ सकता है। इसी भव से मुक्ति नहीं हो सके तो यहाँ से देव और वहाँ से महाविदेह में जाकर सिद्ध हो सकते हैं। इस सिद्धि हेतु आज से ही प्रयास करें और यह मानकर चलें कि आज का ही दिन श्रेष्ठ है, आज ही शुभ मुहूर्त भी है। एकनिष्ठ बनकर जागिये और पुरुषार्थ को जागाईए। हम यह समझ लें कि हमारे भीतर भी अमृत का निर्झर बह रहा है, पुद्गलों के लगाव से हमने उसे शुष्क कर दिया है। अतः पुद्गलों से उपरत होकर शाश्वत सुख को पाने की दिशा में पुरुषार्थ करें तो निश्चित रूप से जीवन को मंगलमय अवस्था उपलब्ध होगी। यही निज पर करुणा होगी, जो ‘पर’ के भाव से छुटकारा दिलाकर हमें आत्मतत्त्व में स्थित रहेगी। करुणा में इसी के रूप को सिद्धि हेतु प्रयास आवश्यक है।



करुणा भाव और आत्मसंस्कार

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी, विविध भंगी मन मोहे रे ।
करुणा, कोमलता, तीक्षणता, उदासीनता सोहे रे ॥

देवाधिदेव तीर्थकर प्रभु महावीर ने ‘सर्वजंतु हितकरणी करुणा’ के भावों से ओत-प्रोत भव्य आत्माओं के कल्याणार्थ जो उपदेश दिया था, वह दिव्य देशना के रूप में इतनी लम्बी अवधि बीत जाने के पश्चात् आज भी हमारे मार्गदर्शन हेतु उपलब्ध है। वह देशना उपलब्ध है यह तो सौभाग्य की बात है, पर चिंतन का विषय यह है कि क्या हम उसका उपयोग कर रहे हैं। खेद का विषय है कि हम ऐसा नहीं कर रहे हैं। हमने तो उस देशना को किताबों में सुरक्षित कर पुस्तकालयों की शोभा बढ़ाई है। पर तीर्थकरों के उपदेश पुस्तकालयों की शोभा बढ़ाने के लिये ही नहीं हैं, वे जीवन की शोभा बढ़ाने के लिये हैं। यदि उन्हें जीवन में आत्मसात् कर लिया जाये तो जीवन का उन्नयन हो सकता है, अन्यथा वे उपदेश आपके लिए क्या अर्थ रखते हैं। प्रभु ने इसी स्थिति को ध्यान में रखकर कहा था कि तुम्हारा जीवन असंस्कारित है। सोचना यह है कि असंस्कारित कैसे है ? उस अवस्था से हम उपरत कैसे हो सकते हैं। कैसे हम संस्कारित बनें ? संस्कारित बनना अत्यंत आवश्यक है क्योंकि जब तक जीवन की मूलभूत अवस्थाएँ असंस्कारित हैं तब तक आगे का पाथेय भी प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए सर्वप्रथम आवश्यकता है, जीवन को संस्कारित करने की। कवि आनन्दधनजी ने संस्कारित जीवन हेतु ही भगवान शीतलनाथ की प्रार्थना को माध्यम बनाया। माध्यम अथवा

निमित्त कोई भी हो सकता है, पर आवश्यकता होती है कि चेतन्य उसे निमित्त रूप में स्वीकार कर ले। नमिराजर्षि के लिए चूड़ी की खनखनाहट ही यह निमित्त बन गयी। राजा करकण्डू के लिए यह माध्यम वह सांड बना जो पूर्व में हष्टपुष्ट अवस्था में था, किन्तु बाद में जो इतनी दयनीय दशा में पहुँच गया कि भिनभिनाती मक्खियाँ उड़ाने तक की सामर्थ्य उसमें नहीं रही। उस देखकर नृपति जागृत हो गये निमित्त जीव-अजीव, जड़-चेतन, किसी को भी बनाया जा सकता है, पर बनाने वाला तो चेतन ही होता है। आगम ऐसे दृष्टांतों से भरे पड़े हैं जो स्पष्ट करते हैं कि जब तक कोई निमित्त नहीं बनाया जाता और जब तक उसमें समाहित मूल तत्वों को ग्रहण नहीं किया जाता, तब तक कल्याण पथ प्रशस्त भी नहीं हो सकता। कवि आनन्दधनजी प्रभु की प्रार्थना की एक कड़ी ‘पर दुःख छेदन इच्छा करुणा’ को प्रभु शीतलनाथ की कृपा हेतु निमित्त बनाते हैं। उनके प्रति समर्पणा निमित्त अथवा साधन बनकर जीवन को संस्कारित कर सकती है।

उस पंक्ति में करुणा का जो स्वरूप बताया गया है उस पर विचार करने के बाद प्रश्न उत्पन्न होता है कि दुःख को कैसे दूर किया जाये ? इस संबंध में भगवान का निर्देश है कि दुःख को दूर करना है तो दुःख के कारण को भी जानना होगा। कारण के जाने बिना दुःख दूर नहीं होगा। वृक्ष तो ऊपर दिखाई देता है, पर उसका मूल जमीन में छीपा रहता है। दुःख रूप कार्य अथवा परिणाम को तो जानते हैं पर कारण ओझल है, उसे देख नहीं पा रहे हैं। उस कारण को देख पाना अथवा जान पाना आवश्यक है क्योंकि यदि कारण का समूल उच्छेदन नहीं किया गया तो वह कारण आगे से आगे कर्म बनता चला जायेगा। इसलिये दुःख को दूर करना है तो पहले कारण को भी दूर करना होगा। इसके लिये कारण जानने की जिज्ञासा होना भी आवश्यक है क्योंकि जब तक किसी कार्य को करने की भावना नहीं जगे तब तक कार्य सम्पादित नहीं हो सकता। ‘व्यक्ति सुख चाहता है और दुःख की अनुभूति करता है’- इस

कथन के शब्दों के मर्म को ग्रहण करें। सुख की कल्पना से अनुभूति दुःख की कैसे होती है इस स्थिति को समझें। व्यक्ति भविष्य के सुनहरे स्वप्न संजोता है और सुन्दर कल्पनाओं में ही सुख-आनंद मानना है। कल्पनाओं का कोई भौतिक धरातल नहीं होता इसलिये वे यथार्थ में परिणित नहीं होती। मनुष्य को इससे असंतोष होता है कल्पनाओं को टूटने से पीड़ा होती है। इसलिये कल्पनाओं की वास्तविकता समझकर उनसे दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिये। एक व्यापारी प्रतिवर्ष तलपट मिलाता है और उसे प्रतिवर्ष घाटा ही घाटा लगता दिखता है। उसे समझ नहीं आता कि घाटा क्यों लग रहा है। वह खोज करता है। विद्यार्थी यदि निरन्तर अनुत्तीर्ण होता रहता है तो उसके अभिभावक उसे उसी दशा में नहीं चलने देते बल्कि वे खोज करते हैं कि वह निरन्तर अनुत्तीर्ण क्यों हो रहा है। संभव है दो-तीन वर्ष उसके लगातार अनुत्तीर्ण होने पर उसे विद्यालय में प्रवेश देने से भी इन्कार कर दें। आप अन्वेषण करते हैं और अन्वेषण के बाद कारणों को दूर करने की कोशिश करते हैं। व्यापारी ने भी साझेदारी में व्यापार किया था, घाटा लगने पर उसने खोज प्रारंभ की। खोज में पहले दृष्टि टिकती है साझेदार पर। वह कहीं धोखा देकर अपना घर तो नहीं भर रहा है। आखिर इतना नुकसान क्यों हो रहा है, जबकि उसे अहसास है कि वह तो निष्ठा से कार्य कर रहा है। प्रत्येक वस्तु मुनाफे से बिक रही है और रोटेशन अच्छा है तो घाटा क्यों हो रहा है। हो न हो वह कुछ गड़बड़ी कर रहा है, इसी से मुझे घाटा उठाना पड़ रहा है। खोज करने पर ज्ञात हुआ कि वह साझेदार फर्म के प्रति ईमानदार नहीं है। इस स्थिति से निपटने के लिये आप दृढ़ कदम उठायेंगे। साझेदार से आप कहेंगे- या तो हिसाब करके फर्म छोड़ दो या फर्म रखना चाहो तो मैं फर्म छोड़ता हूँ। यह विकल्प तब ही रख पायेंगे जब संकल्प से पहले खोजबीन कर लेंगे। स्पष्टतः संकल्प होगा पहले कि मैं साझेदारी में घाटा सहन नहीं कर सकता। फिर अलग से करने में समय अधिक नहीं लगेगा। पूज्य आचार्यदेव बोरीवली में चातुर्मास सम्पन्न कर रहे थे। मुंबई में पहली बार पर्दापण हुआ था, पत्रकारों ने सुना, पहुँच गये।

उन्होंने आचार्य भगवन् से अनेक प्रश्न किये। उस दौरान आचार्य भगवन् ने जो बातें कही, अभिषेक नामक गुजराती पत्रिका में उस वार्ता का संक्षिप्त निष्कर्ष एक घटनाक्रम के रूप में छपा- ‘आचार्य श्री नानेश नुमजेदार सिद्धांत।’

वह साझेदारी के रूप में ही उल्लेखित हुआ। गुरुदेव ने बताया कि जब वे गृहस्थ के रूप में थे तब उन्होंने साझेदार से यह समझौता कर लिया था कि यदि कभी मुझे उत्तेजना आ जाए तो तुम चुप रह जाना, तुम्हें उत्तेजना आ जाए तो मैं चुप रह जाऊँगा। इसीलिए उसे कहा गया मजेदार सिद्धांत। यदि इसे परिवार में अमली रूप में काम में लें तो यह हो कि यदि एक व्यक्ति उत्तेजित हो और शेष सदस्य शांत रहे तो परिवार सुरक्षित बना रहेगा। यदि एक उत्तेजित हो और साथ में सभी उत्तेजित हो जाये तो उस घर को बचा पाना मुश्किल होगा। आचार्यश्री की वह छोटी वय थी, धर्मग्रन्थों का अध्ययन भी नहीं किया था, पर उनका समझौता सिद्धांत उनके भीतर की उपज थी। उन्होंने उसके ही आधार पर व्यापार किया। आज भी यदि वह सिद्धांत परिवार में, समाज में, राष्ट्र में तथा जहाँ भी दो व्यक्ति मिलते हों वहाँ लागू हो जाये तो वह वरदान साबित हो सकता है। आज व्यक्ति के लिए जीवन अभिशाप बना हुआ है। परिवार में, समाज में सबको साथ लेकर चलना टेढ़ी खीर है। पर आचार्यदेव के जीवन को उर्वर रूप देने वाले सिद्धांत से अभिशाप को वरदान में बदला जा सकता है।

बात समझेदारी की चल रही थी जिस साझेदारी में पाप हो उसे समाप्त करना ही समझदारी हो सकती है। परदुःख-छेदन के सिद्धांत पर चलने पर भी ऐसा हो सकता है। उस स्थिति में पर के साथ जो साझेदारी है उससे संबंध समाप्त कर पिण्ड छुड़ायें। अवसर आया है जागें। परदुःख-छेदन का सिद्धांत तो अच्छा है लेकिन ‘पर’ किसे कहें? ‘पर’ व्यक्ति नहीं बल्कि पौद्गलिक पदार्थों के प्रति जो ममत्व, राग भाव या भीतर पैदा होने वाले वैभाविक भाव हैं वे ही ‘पर’ हैं। वे दुःख पैदा करते

है। उस दुःख की अनुभूति करनी चाहिये। ‘पर’ का संयोग बना, चेतना में, कर्म में साथ भागीदारी हुई, संसार में दुकान चलने लगी। वह बहुत समय तक बेसुध रहा, सारी पूँजी लगा दी, देखरेख भी पुद्गलों पर छोड़ दी। सम्पत्ति लगाकर सारा कार्य मन, वचन और काया को सौंप दिया। ये सब पौद्गलिक हैं। इन्होंने हमें जगह-जगह धुमाया मनमर्जी से, जहाँ चाहे वहाँ भटकाया, पर हमने यह चिन्तन भी नहीं किया कि इस सांसारिक साझेदारी में हमें कितना घाटा लगा। प्रभु को केवलज्ञान प्राप्त हो गया, उनके सानिध्य में आने वाले गणधरों को भी केवलज्ञान प्राप्त हो गया। क्या कारण है हमारे भीतरी वैसी शक्ति प्रकट नहीं हो रही है ? कारण यह है कि पुद्गलों ने अपना इतना साम्राज्य जमा लिया है और हमें इस कदर दास बना लिया है कि उन्हें छोड़ने की हम में क्षमता या तत्परता ही नहीं बन पा रही है।

पहले हम ‘पर’ के स्वरूप को जान लें। ये कर्म पुद्गल ही ‘पर’ है। हमने इन्हें लिफ्ट दी, कर्म को आसन दिया। हम यह भूल गए कि इनकी प्रवृत्तियाँ विकृत हैं, इनसे बचकर ही रहना चाहिये। लिफ्ट पाकर ये सेंध लगाने का काम करने लगे। तुम सतर्क नहीं रहे इसी कारण यह हावी हो गए। अब चेतो, अभी भी समय है, ‘पर’ को जान लो। जानने पर दुःख छेदन की इच्छा भी जागृत होगी। हम सुनते तो बहुत हैं कि सामायिक, पौष्ठ, धार्मिक अनुष्ठान आदि करने चाहिये, हिंसा नहीं करना चाहिये, झूठ नहीं बोलना चाहिये, पर क्या हिंसा छूटी, झूठ छूटा ? दूसरे कामों से अपने को हमने अलग कितना किया ? कवि कह रहे हैं- ‘पर दुःख छेदन इच्छा करुणा’। कवि ने जो मार्मिक बात कही है, उसमें निहित बात को समझें। वे शाब्दिक चयन में ही नहीं रहें अपितु अर्थ की गहराई में भी उतरें। उन्होंने आत्मा के सत्रचित् आनन्दमय स्वरूप को प्राप्त करने के लिये प्रयास करने का संकेत दिया है। प्रभु ने तो कह दिया जीवन असंस्कारित है प्रमाद मत करो, पर जीवन को संस्कारित कैसे करें ? पहले यह जानना होगा कि संसार में आत्मा किस कारण धूम रही है।

कारण को जानें, ‘पर’ संयोग को जानें, क्योंकि उसने जीवन को असंस्कारित किया है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र को ढक दिया है, हमें असहाय बना दिया। सोचें, उसका छेदन करने के लिए क्या करना चाहिए। उसे साझेदारी से अलग करना है या उसके साथ दुकान चलाते रहना है? छेदन की इच्छा जगती तो है और आपने जान लिया है कि झूठ में छवि बिगड़ती है। आप चाहते भी हैं कि ईमानदारी से काम करूँ पर से प्रवृत्तियाँ छोड़ने का साहस नहीं कर पाते। तब समझ लीजिये की हिंसा, झूठ आदि से अलग नहीं हो पायेंगे। हम कुत्सित प्रवृत्तियों को जानकर भी त्याग नहीं पाते, बेबस रह जाते हैं, यह दयनीय स्थिति है। प्रभु का उपदेश सुबाहुकुमार सुन रहे हैं। आप वर्णन सुन गए ‘सद्हामिणं, भंते पत्तियामिणं, भंते रोएमिणभंते-’ अर्थात् भगवान मैं निर्गन्ध प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ, प्रतीति करता हूँ, रुचि करता हूँ। पर रुचि जब तक जगी ही नहीं कि मुझे अमुक कार्य करना है तब तक प्रवृत्ति नहीं होगी।

मैं पूर्व में बतला गया हूँ कि हमारी कल्पना सुख के लिए होती है। सोचते हैं कि यह करूँगा, वह करूँगा। कुछ व्यापार की कल्पनाएँ, कुछ परिवार संदर्भित कल्पनाएँ पर क्या कभी यह भी कल्पना की है कि मुझे आत्मा के लिए कुछ करना है? संतों को ही नहीं, श्रावकों को भी पिछली रात्रि में ब्रह्ममुहूर्त में चितवृत्ति को संबोधित करते हुए कहना है- चैतन्य। तू जाग, सोच तू कहाँ से आया है? क्या करना है? कहाँ जाना है, तू कौन है? यदि तू कौन है इसे भी नहीं जाना तो आगे प्रवृत्ति कैसी होगी? भाई दर्शनार्थ आते हैं, पूछते हैं- महाराज मुझे पहचाना। मैं कहता हूँ भाई तुम्हें पहचानने से मतलब सिद्ध नहीं होगा। मेरे तुम्हें पहचानने या न पहचानने से कोई फर्क नहीं पड़ेगा। फर्क तब पड़ेगा जब तुम ‘स्व’ को पहचानोगे। ‘स्व’ को पहचाने बिना उद्धार नहीं होगा। यदि स्वयं को ही पहचान जायें तो भी बेड़ा पार हो सकता है। क्योंकि कहा गया है- ‘जे एगं जाणइ से सब्वं जाणइ’ अर्थात् यदि एक को जान लोगे तो सबको जान लोगे। कैसे जान लोगे? मान लीजिये मैंने एक व्यक्ति को जान

लिया, हजार व्यक्ति उपस्थित हैं और वह व्यक्ति उनमें नहीं है तो मैं कहूँगा यह वह नहीं है, यह वह नहीं है। इस प्रकार निषेध रूप से सबका परिचय हो जायेगा। पर यहाँ कहा गया है कि एक आत्मा को जिसने सर्वांगीण रूपसे जान लिया तो वह प्रत्येक पदार्थ को सर्वांगीण रूप से जान लेगा। इसलिए प्रभु कहते हैं- ‘स्व’ को जानो, यही करुणा भाव है। सम्यक्त्व के लक्षण में भी करुणा भाव कहा गया है। जब अपनी अनुभूति में पर-दुःख-छेदन की भावना प्रबल होती है। तब पर-भाव दूर हो जाते हैं। जब साझेदारी से घाटा दूर करने की अभिलाषा प्रबल बनती है तब वह वकील के पास पहुँच जाता है। उसे यदि फुर्सत नहीं हो तो भी दो सौ-चार सौ रूपये देकर तय करेंगे, परामर्श करेंगे कि घाटा दूर कैसे करूँ। हानि से उबरने की इच्छा तो सभी को जगती है परन्तु जब तक आत्मशक्ति जागृत न हो, मन का सानिन्द्य उसे दबा देता है। आत्मशक्ति को प्रकट करना है तो बाहर से हटकर बिखरी शक्तियों को केन्द्रित करना आवश्यक है। चारों ओर जो हमारी शक्ति बिखर रही है जब तक वह केन्द्रित नहीं होगी तब तक चाहे कितना ही प्रयत्न करें, पौदगलिक प्रभाव से ऊपर उठ नहीं पायेंगे। पौदगलिक प्रभाव से ऊपर उठाने के लिए आवश्यक है शक्ति का केन्द्रीयकरण। इस स्थिति को एक उदाहरण से समझें।

यदि यह समाचार मिलता है कि युद्ध छिड़ गया है और कभी भी बमबारी हो सकती है तब सभी को सचेत किया जाता है कि अपने घरों में जेड आकार की खाईयाँ खोद लें ताकि हवाई हमले के समय नागरिक उनमें शरण लेकर सुरक्षित रह सकें। रात्रि में लाईट नहीं जलाई जाये तथा सेना को आक्रमण की स्थिति में तैयार रखा जाता है। पता नहीं कब आवश्यकता पड़ जाये। इसी प्रकार हम व्यक्तियों को सावधान करते हैं कि न जाने कब जरूरत पड़ जाये अतः हर समय सावधान रहो। सेनापित का कुशल नेतृत्व मिले तो पुद्गल से पिण्ड छूट सकता है। इसलिये पर-दुःख छेदन हेतु ऊर्जा को संयोजित करें। आज हम भ्रांतियों के झूले

में झूलने लगते हैं। व्यक्ति धार्मिक क्रियाएँ भी कभी-कभी अपनी पाप-प्रवृत्तियों को छिपाने के लिए करता है ताकि दुनिया की निगाहों में वह धर्मात्मा बना रहे। कई बार वह दुकान में भी गोमुखी में रखकर माला फेरता रहता है। ग्राहक जब देखता है कि सेठजी इतने धर्मात्मा हैं तो वह बेझिझक माल खरीद लेता है। यह तो घर पर जाकर देखने पर मालूम पड़ता है कि तौल कितना खरा था और माल कितना सही। व्यक्ति अपने पाप को छिपाने हेतु कैसे धर्मात्मा बन जाता है यह उस राजा के दृष्टांत से समझा जा सकता है। जिसने देखा चारों और उसका अपयश फैल रहा था। कहा जाता था कि वह अन्यायी है। राजा को चिन्ता हुई, अपने संबंध में फैले अपवाद को कैसे दूर किया जाये। एक पुरोहित राजसभा में आता रहता था। उसने राजा को चिंतित देख चिन्ता का कारण पूछा। राजा ने मन की बात बता दी। उसने कहा- राजन् यदि आप प्रतिदिन धर्मशास्त्र सुनें तो आपका पाप नष्ट हो जाएगा। राजा ने कहा- कौन सुनाएगा, मैं तो पढ़ना जानता नहीं हूँ। पुरोहित ने कहा- राजन् सुनाने के लिए मैं तैयार हूँ, भला आपके लिए मनाई थोड़े ही हो सकती है। राजा ने पूछा- अच्छा, तुम सुनाओगे तो पारिश्रमिक क्या लोगे ? पुरोहित ने उत्तर दिया- वैसे तो राजन् आपका आधार है, आपसे क्या मांगूँ पर परिवार, बीबी-बच्चों को भी पालना पड़ता है। आप जो दक्षिणा देना चाहें दे दें। मैं प्रतिदिन एक घंटे धर्मशास्त्र सुना दूँगा। पुरोहितजी आने लगे। धर्मशास्त्र सुनाने के बाद रसीद काट देते और पुरोहितजी भण्डारी से दो सोने की अशर्फियाँ प्राप्त कर लेते। समय गुजरता रहा, एक दिन पुरोहितजी नाई की दुकान पर पहुँचे। नाई ने बाल बनाते हुए कहा- आप प्रतिदिन राजा को धर्मशास्त्र सुनाते हैं तो आप क्या लेते हैं ? पुरोहित ने कहा- मुझे दो अशर्फी प्राप्त होती है। नाई ने कहा- तो पुरोहितजी मैं भी आपसे दो अशर्फी लूँगा क्योंकि आप भी एक घंटे सुनाते हैं और मुझे भी इस काम में एक घंटे का समय लग जाता है। अतः मैं भी दो अशर्फियों से कम नहीं लूँगा। पुरोहित ने कहा- भाई, तुम्हारी और मेरी मेहनत में अन्तर है और मैं राजा से मांगता नहीं हूँ, राजा स्वयं दक्षिणा के रूप में

मुझे प्रदान करता हैं। नाई ने कहा- तो ठीक है। मैं भी आपसे कुछ नहीं लूंगा, जब चाहें तब दक्षिणा दे देना। पुरोहित तो चला गया, पर नाई ने विचार किया- अरे ये ब्राह्मण राजा से प्रतिदिन दो अशर्फी वसूल करता है और ये राजा भी कुछ समझता नहीं। इतने से कार्य के लिए दो अशर्फी ? अब अपने को कुछ करना होगा।

कहते भी हैं कि पक्षियों में कौआ और मनुष्यों में नापित बड़े चतुर होते हैं। नाई ने सोचा- कोई चतुराई लगानी चाहिये। वह राजा के पास पहुँचा और बोला- राजन् आपके शरीर से तो सुगन्ध आती है, पर ये पुरोहित आपसे परहेज करता है। मैं प्रतिदिन सेवा करते हुए देखता हूँ। यह पुरोहित अपने आपको श्रेष्ठ समझता है। राजा ने कहा- भई, वह तो धर्मात्मा है, ऐसी बात मुझे तो महसूस नहीं होती है। नाई ने कहा- राजन् आप ने ध्यान नहीं दिया, पर ऐसे लोगों को परखने में मुझे देर नहीं लगती। आप उदार दिल हैं इसलिए उस कोण से नहीं देखते। वह सिर्फ परहेज ही नहीं रखता बल्कि सुगन्ध में भी दुर्गन्ध की अनुभूति करता है। राजा ने कहा- इसका क्या प्रमाण है ? तुम किस आधार पर यह कह रह हो ? नाई ने कहा- राजन् जब वह आपके पास आता है तो नाक और मुँह पर कपड़ा बांध लेता है। आपके प्रति उसके मन में दुगुच्छा के भाव हैं। जब कल वह आये, आप ध्यान रखना। राजा ने दूसरे दिन ध्यान रखा- सचमुच पुरोहितजी ने मुँह-नाक बाँध रखे हैं। राजा ने सोचा- ‘हाथ कंगन को आरसी क्या’ ? राजा के मन में ग्रंथि बन गई। एक पर-भाव और जुड़ गया, छेदन तो दूर रह गया। ब्राह्मण घृणा करता है नाई ने ठीक ही कहा था। मैंने इतने दिन ध्यान ही नहीं दिया। मन में पाप वासना है, घृणा है। वह कैसा धर्मात्मा है और उसके मन में अनेक प्रकार की कल्पनाएँ घूमने लगीं। राजा भूल गया कि वह धर्मशास्त्र सुन रहा था। यदि सुनने में ध्यान न हो तो व्यक्ति प्रत्येक कड़ी को अपने दृष्टिकोण से जोड़ने की कोशिश करता है, अपना गणित लगाता है। कौनसी बात किसपे फिट बैठती है, यह सोचता रहता है। परन्तु जब तक बाकी, जोड़,

गुणा, भाग का गणित चलता रहता है तब तक एक और एक ग्यारह नहीं बनते। पर यदि इन चिह्नों को सर्वथा हटाकर लिखें- 1 और 1 यह ग्यारह बन जाते हैं। इस प्रकार संबंध जुड़ने पर दो शक्तियाँ साथ खड़ी हो जाती हैं तब ग्यारह बन जाते हैं। राजा भी गणित लगा रहा था। धर्मशास्त्र सुनाने का समय पूर्ण हुआ, पुरोहित ने राजा को आशीर्वाद दिया और राजा ने भी रोज की तरह पर्ची लिख दी। पुरोहित खाना हुआ। उधर नाई को भी यह जानने की उत्सुकता हुई कि राजा ने कुपित होकर विप्रदेव को क्या दंड दिया है? खबर लेनी चाहिए। देखा, ब्राह्मण तो प्रसन्न मुद्रा में चला आ रहा था। उसने कहा- ब्राह्मण देवता नमस्कार। ब्राह्मण ने आशीर्वाद दिया। नाई के हाव-भाव से लग रहा था कि वह कुछ चाह रहा है। ब्राह्मण ने पर्ची उसके हाथों में दे दी और चले गए अपनी राह। नाई भंडारी के पास पहुँचा गया और रसीद पेश कर दी। भंडारी ने कार्य पूरा किया।

दूसरे दिन ब्राह्मण दरबार में पहुँचा। राजा विस्मित हुआ। उसने पूछा- क्यों, आपने कल दक्षिणा नहीं ली, पर्ची कहाँ है? ब्राह्मण ने सोचा बात क्या है? फिर उसने कहा दक्षिणा तो मिल गई। राजा विचार में पड़ गया। क्या भंडारी मेरे निर्देश का पालन नहीं करता है। राजा ने ब्राह्मण से कहा- तुम्हारे भीतर हिंसा के भाव, रागद्वेष के भाव पनप रहे हैं। धर्मशास्त्र क्या सुनूँ पहले स्वयं तो उन पर आचरण करो। पुरोहित ने कहा- महाराज, मुझे बात समझ में नहीं आई। राजा ने कहा- अरे ये बताओ कि धर्मशास्त्र सुनाने मेरे पास आते हो तो मुँह पर कपड़ा क्यों बांधते हो? यहाँ अपने दो के सिवाय तीसरा कोई नहीं रहता, स्पष्ट है कि तुम मुझसे घृणा करते हो। पुरोहित ने कहा- राजन् आपके शरीर से तेल, चन्दन, उबटन की सुगन्ध आती है। मैं तो कपड़ा इसलिए बांधता हूँ कि कहीं मेरे मुँह का थूक धर्मशास्त्रों पर या आप पर न उछल जाए। आपका अपमान न हो जाये, उसके बचाव की दृष्टि ही मुख्य है। राजा ने विचार किया- नाई तो कह रहा था दुगुच्छा के कारण मुँह बाँधता है।

राजा विचार करने लगे भंडारी ने दक्षिणा क्यों नहीं दी। भंडारी को बुलाया गया। उसने कह दिया- आपके निर्देशानुसार मैंने अपना कार्य किया है। तब ब्राह्मण ने कहा- कल की दक्षिणा नाई ने मांग ली थी, पर्ची वह ले गया था। नाई को बुलाया गया। उसकी नाक पर पट्टी बंधी थी। राजा ने पर्ची के माध्यम से भंडारी को आदेश दिया था कि पर्ची लाने वाले की तत्काल नाक काट दी जावे। भंडारी ने वही किया था। नाई से निवेदन भी किया था अरे यह क्या कर रहे हैं ? भंडारी ने कहा- मुझे नहीं मालूम। राजा का आदेश है और पर्ची पर राजा के हस्ताक्षर है। ब्राह्मण ने कहा- राजन् आपको दंड देने से पहले जानकारी तो कर लेनी चाहिए थी। यह है पाप छिपाकर धर्मात्मा बनने का उपक्रम।

उदाहरण की बात तो अपनी जगह पर है परन्तु हम विचारें कि ऐसा कैसे हुआ। निश्चित ही जहाँ असंस्कारित जीवन है वहाँ आवेश में व्यक्ति आपा भूल जाता है। जो दूसरों को दुःख देने का प्रयत्न करता है वह दूसरों को दुःखी कर पाये या नहीं, पर स्वयं को पहले ही दुःखी कर लेता है। प्रभु का इसलिए निर्देश है कि जीवन असंस्कारित है सावधान हो जाओ, एक क्षण भी प्रमाद न करो। जब ‘पर’ से संयोग जुड़ता रहेगा भीतर करुणा का स्रोत प्रवाहित नहीं होगा। कवि भी परमात्मा की स्तुति उस इच्छा को, संस्कारों को जागृत करने के लिए करते हैं। इच्छा क्या है? पर दुःख छेदन की इच्छा। कवि हमें बोध दे रहे हैं। कि जब प्रभु ने करुणा को जागृत किया तब उसे अपने तक ही सीमित नहीं रखा बल्कि विशद् रूप से प्रसारित कर दिया। चारों ओर उसका फैलाव कर दिया। इस प्रकार विश्व के प्राणीमात्र के लिए उसे प्रवाहित किया। हमें कामना करनी चाहिये कि प्रभु की स्तुति से वे गुण हमारे भीतर भी समाविष्ट हों। हमें प्रभु की दिशा में स्वयं को झुकाना है। आत्मशक्तियों को सचेत करना है। शक्ति यदि जागृत है तो पुद्गल हावी नहीं हो सकेंगे। केन्द्र यदि मजबूत है तो आने वाली वृत्तियाँ हानि नहीं पहुँचा सकेगी। पर यदि केन्द्र ही कमजोर है तो वहाँ कोई भी शक्ति कारगर नहीं होगी। शक्ति

को जागृत करने के लिए पुद्गलों के प्रभाव से मुक्त होना होगा। संसार भाव से मुड़ना होगा। दुनिया से पहले, ‘पर’ को सुधारने से पहले स्वयं को सुधारना होगा। वह करुणा जब स्वयं में व्याप्त हो जाएंगी तब भगवान् शीतलनाथ द्वारा दिखाये गये मार्ग पर हम मुस्तैदी से चल सकेंगे और जीवन के इष्ट को प्राप्त कर सकेंगे।

दि. 06.10.96



छः जीवनिकाय का स्वरूप

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी, विविध भंगी मन मोहे रे ।
करुणा, कोमलता, तीक्षणता, उदासीनता सोहे रे ॥

शीतल... ॥ ॥ ॥

असंख्यं जीविय..... ।

तीर्थकर देवों का दिव्य उपदेश जीवन को संस्कारित करने के लिये है। इसलिये उसे जीवन का अंग बनाना, जीवन के स्वरूप में अभिव्यक्त होना और जीवन में प्रकट होना चाहिए। परन्तु खेद का विषय है कि हो रहा है उल्टा। हमने उसे आचरण की नहीं प्रदर्शन की वस्तु बना दिया है और पोशाक के रूप में उसे धारण करके अवसरानुसार बदलते रहते हैं। यदि एक दिन में ही चार जगह जाना हो और एक ही पोशाक में गये तो शायद लोग सोचेंगे कि इनके पास कपड़े नहीं हैं इसीलिए एक ही पोशाक पहन रहे हैं। इसीलिए चार प्रकार की पोशाक होनी चाहिये। आज व्यक्ति की पहचान पोशाक से होती है, जीवन से नहीं। जब तक पोशाक से पहचान बनी रहेगी, जीवन को नहीं पहचान पाएंगे। परन्तु रक्त के साथ आप ऐसा नहीं करते। आपकी शिराओं में जो रक्त कल था वही आज भी है। हो सकता है फेफड़ों ने छानकर सफाई कर उसे पुनः हार्ट में पहुँचा दिया हो। उसमें कुछ नयापन आ गया हो, पर वह खून जन्म से ही शिराओं में दौड़ रहा है। जो चमड़ी जन्म से थी, आज भी वही है। हो सकता कालेपन को छिपाने के लिए प्लास्टिक सर्जरी करवा ली हो। अन्यथा जन्म से जो प्राप्त है, वही अतः बनी रहती है। मन में रक्त या

चमड़ी के परिवर्तन की बात नहीं आती। पोशाक और भोजन में परिवर्तन होते रहना चाहिए। उपदेश की बात भी उसी प्रकार की है। एक ही प्रकार के उपदेश से संतोष नहीं होता।

पर सोचें कि उपदेश को क्या बदलते रहने की आवश्यकता है? उपदेश में ज्ञान, श्रद्धा, चरित्र और जीवन के तत्वों की बात होती है और ये तत्व निरन्तर होते हैं। क्या प्रतिदिन पूर्व में ही सूर्योदय देखकर हम ऊबते हैं? क्या यह इच्छा करते हैं कि सूर्योदय की दिशा बदलती रहे? क्या शुद्ध जल की जीवन के लिए आवश्यकता में परिवर्तन हो सकता है? ऐसा परिवर्तन जीवन के लिये विनाशकारी सिद्ध हो सकता है। यही बात शुद्ध वायु के संबंध में भी सच है। तब उपदेश के शाश्वत तत्वों में परिवर्तन कैसे किया जा सकता है? उपदेश जीवन के रूपान्तरण के लिये होते हैं, उसमें सुधार उनका लक्ष्य होता है। अतः जब तक जीवन का अपेक्षित रूपान्तरण न हो जाये, उसमें जब तक अपेक्षित सुधार न हो जाये, तब तक उपदेशों की प्रकृति, प्रवृत्ति और उनके सत्य में परिवर्तन की गुंजाइश कहाँ रहती है? और यदि अपेक्षित रूपान्तरण एवं सुधार हो जाता है तब तो उपदेश की पूर्णता हो जाती है। भगवान महावीर ने कहा है- ‘उद्देसो पासगस्स णथि’ समझदार (दृष्टि) को उपदेश की आवश्यकता नहीं रहती। उपदेश की आवश्यकता यह है कि हमें एक ही उपदेश मिलता रहे, एक ही बात लगातार, बार-बार चेतना पर प्रहार करती रहे, जिससे परिवर्तन का आधार बने। जब रस्सी के बार-बार आने-जाने से कुएँ की शिलापर भी निशान पड़ जाते हैं, तब उपदेश की बार-बार आवृत्तियाँ कठोर से कठोर हृदय में भी संस्कारों के परिवर्तन की प्रक्रिया अवश्य संभव कर देगी। वह परिवर्तन के लिए तैयार नहीं होगा, इसलिए मैं प्रभु के उस दिव्य संदेश में से ही जिस केन्द्रिय सूक्ति का चयन कर कह देता हूँ। वह सूक्ति है- ‘असंख्यं जीविय मापमायए’ असंस्कारित जीवन है इसीलिए इस पर बार-बार बल देने की जरूरत भी है। यदि जीवन संस्कारित बन जाए तो फिर उपदेश की आवश्यकता ही नहीं

रहेगी। यदि संस्कारित बन गए तो फिर प्रभु के दिव्य वचनों ‘मा पमायए’-प्रमाद मत करो-का भी पालन हो जायेगा। अन्यथा यदि प्रमाद में, गफलतता में पड़ गए तो जीवन नष्ट हो जायेगा। पतन की गहनतम स्थिति में पहुँच जायेगा। इसीलिए जब बार-बार कहा जायेगा कि तुम्हारा जीवन असंस्कारित है, उसे संस्कारित करो, तो कभी तो साधक को प्रेरणा मिलेगी कि मैं अब असंस्कारित नहीं कहलाऊँ, संस्कारित बनूँ। इस प्रकार वह संवेग पैदा होगा जिसे वैराग्य की संज्ञा दी गई है। यही संवेग जब गहरा जाता है तब संसार के बंधन छोड़ व्यक्ति साधु जीवन स्वीकार कर लेता है। साधु जीवन स्वीकार करने के बाद वह साधु जीवन की अर्चना में संयोजित हो जाता है।

प्रभु ने छः निशा स्थान कहे हैं, जिसमें एक है छः जीव निकाय। इस जीवन के, इस शरीर के अस्तित्व में इनका महत्वपूर्ण योगदान है। उनके आधार पर ही यह टिका है इनका सहकार नहीं मिले तो यह जीवन टिक नहीं सकता। यह आधारभूत है, पर आज हम इन्हें समुचित महत्व नहीं दे रहे हैं। प्रभु ने दो क्रियाएँ बताई हैं- एक अर्थ क्रिया दूसरी अनर्थ क्रिया। अर्थ क्रिया के लिए जो होता है उसके लिए अर्थ दंड और जो अनर्थ क्रिया है उसके लिए अनर्थ दंड है। आपको लगेगा ये क्या बातें हैं। अर्थ क्रिया, अर्थ दण्ड ? अर्थ दण्ड क्या है ? अर्थ का अर्थ धन नहीं लेना है। यहाँ अर्थ से तात्पर्य है- जिसके बिना जीवन निर्वाह नहीं हो। जो जीवन के लिए आवश्यक है उसे अर्थ कहा गया है। उसके लिए जो क्रिया की जाये उसे अर्थ क्रिया कहते हैं। एक व्यक्ति परिवार में रहते हुए परिवार के लिए तथा समाज के लिए अपने जीवन के उत्तरदायित्वों का वहन करता है वह अर्थ क्रिया है। आनन्द श्रावक था, जिसका विशाल परिवार था और 40,000 पशु थे। आज तो एक-दो पशु की सेवा-चाकरी भी कठिन पड़ रही है। विचार कीजिये उसे उन पशुओं के लिए कितना चारा-पानी जुटाना पड़ता था। उसमें हिंसा होना स्वाभाविक था। श्रावक को वह हिंसा करनी चाहिये या नहीं ? वह हिंसा अर्थ क्रिया के अन्तर्गत

आती है। उन पशुओं की सुरक्षा और उनके पालन-पोषण का उत्तरदायित्व उस पर था। जहाँ घर में दस सदस्य होते हैं उनकी कितनी जिम्मेदारी होती है। परन्तु वहाँ तो 40,000 का पशुधन था, जिसको वे पारिवारिक सदस्य मानकर सुरक्षा करते थे। यदि उन्हें अपने आश्रित रखकर समय पर चारा-पानी नहीं देते, भक्त पान विच्छेद करते तो वह हितकर नहीं होता। वहाँ अतिचार का प्रसंग बनता। जहाँ अर्थ क्रिया का प्रसंग है वहाँ 40,000 तो क्या 40 लाख या 40 करोड़ भी क्यों न हो, अर्थ क्रिया करनी पड़ती है। अपने देश के प्रधानमंत्री की बात करें। वह यदि सम्पूर्ण देश की जनता के पालन की भावना लेकर चलता है, तो समझिये कि उसका परिवार कितना बड़ा है। 90 करोड़ तो पूर्व के अनुमानित आंकड़े थे, अब तो उनमें वृद्धि हुई होगी। 90 करोड़ या 95 करोड़, चाहे जो भी हो, उनके लिए जो क्रिया करनी होती है यदि वह क्रिया प्रधानमंत्री तटस्थ भाव से, देश की या व्यक्तियों की सुरक्षा के लिए करता है तो वह अर्थ क्रिया है। चेडा महाराज 12 व्रतधारी श्रावक थे। कौणिक के साथ वे भी युद्ध में आ डटे। पंचेन्द्रिय जीवों का कितना वध हुआ, भगवती में देखा जा सकता है। उसे अर्थ किया कहा है। उन्होंने युद्ध क्रिया अनीति के प्रतिकार के लिए, वैभव या राज्य के विस्तार के लिए नहीं। अन्याय का प्रतिकार किया इसलिए वह अर्थ क्रिया थी।

इस सम्पूर्ण स्पष्टीकरण का कारण है। क्योंकि इसको समझने पर ही जीव निकाय को भी समझा जा सकेगा, जिनके आधार पर जीन टिका हुआ है। इतनी विशाल जनता के लिए वह पृथ्वी, अप, तेज, वायु आदि जीवों का जो उपमर्दन करता है, वह अर्थ क्रिया में है। पर यदि इससे हटकर वह निरर्थक यूं ही एक गिलास पानी व्यर्थ में गिरा दे तो यह अनर्थ क्रिया है। पीने, नहाने, कपड़े धोने आदि के लिए वह पानी गिराता है वह अलग बात है, पर यूं ही बेवजह एक लोटा या एक गिलास पानी फेंक दे तो वह पानी की बरबादी है, अनर्थ क्रिया है। आज चारों ओर प्रदूषण के फैलने की चर्चा है। हर कहीं प्रदूषण पैर फैलाए सामने आता

है। इसका कारण क्या है ? जब तक विस्तारवादी नीति चलेगी प्रदूषण बढ़ता रहेगा। आप भोजन करते हैं, चाहे जितना करें कोई बात नहीं। पर कईयों की आदत होती है झूठा छोड़ने की। पतल पर भोजनकरते हुए काफी भोजन छोड़ दिया जाता है। वह बचा-खुचा भोजन जहाँ फेंका जाता है वहाँ सड़ान पैदा होती है, मच्छर पैदा होते हैं, प्रदूषण फैलता और बीमारी को प्रश्रय मिलता है। तीर्थकरों ने छः जीव निकाय का स्वरूप बताया है। यद्यपि गृहस्थ जीवन में रहते इनके आरम्भ का सम्पूर्ण रूप से त्याग नहीं किया जा सकता तथापि मर्यादा तो की ही जा सकती है। पर मर्यादा पहले त्रस जीवों की जानी चाहिये। यदि त्रस जीवों की हिंसा का प्रत्याख्यान नहीं और कहें 100 लीलोती के सिवाय सबका त्याग करवा दो तो वही बात होगी की तन पर तो कपड़ा नहीं लेकिन मस्तक पर पगड़ी सजा रखी है। यह ज्ञान होना चाहिये कि पहले कौन-सा कपड़ा पहनना आवश्यक है। पहले लज्जा ढ़कने के लिए धोती, पेंट पहने, उसके बाद एक चादर शर्ट का जुगाड़ करे और फिर बाद में टोपी या पगड़ी धारण करे तो वह शोभायमान होगा। तन पर कपड़े नहीं और पगड़ी लगाकर बाजार में घूमे तो लोग हँसी ही उड़ाएंगे। इसी प्रकार यह भी अजीब बात होगी कि बारह व्रत, अहिंसा अणुव्रत तो स्वीकार किये नहीं और कहे- पाँच दस लिलोती के सिवाय या स्थावर हिंसा के त्याग करा दो। यदि त्रस का अव्रत नहीं रोके और स्थावर की प्रतिज्ञा करे तो यह अन्य वस्त्रों के सिवाय सिर्फ पगड़ी ही धारण करने जैसी बात होगी। यह समझना कठिन नहीं है कि पहले नींव को मजबूत करना आवश्यक होता है। बच्चों की भाँति नींव के बिना ही मिट्टी के महल बना दिये तो वे कब तक टिकेंगे। तभी तो प्रभु ने कहा है- जीवन असंस्कारित है उसे संस्कारित करने की तैयारी करो। सर्वजन्तु हितकरणी करुणा-करुणा का स्रोत प्राणीमात्र के लिए प्रवाहित करो। ये छः जीव निकाय साधु, श्रवक व प्रत्येक व्यक्ति के लिए आधारभूत हैं साधु के लिए किस रूप में ? उसके निमित्त यदि प्राणियों का उपमर्दन करके भोजन, मकान आदि बनाए जायें तो वे उसके लिए ग्राह्य नहीं हैं। एक दिन एक भाई बोल गए

कि जल्दी-जल्दी समता भवन तैयार किया। पर बताईए कितना समय हुआ है इस भवन को बनाये। आप ही कह रहे हैं- लभग 5 वर्ष। यदि नये रूप में भवन बने या गच्छ, छत आदि चातुर्मास खुलने के बाद में पड़े तो वहाँ साधु चातुर्मास नहीं कर सकते। बीकानेर में सेठिया कोटड़ी में आचार्यदेव के सन् 1973 के चातुर्मास में जनता समाती नहीं थी इसलिये एक गैलरी बनाई गई, पर उस चातुर्मास में कोई भी साधु उसमें पैर नहीं रखता था। क्योंकि चातुर्मास खुलने के बाद बनने के कारण साधुओं के लिए उसका प्रयोग वर्जित था। परन्तु पुरुषान्तर कृत होने के पश्चात्, बाद में, जब आना तो हो साधु उसे प्रयोग में ले सकता है, क्योंकि वह साधु के लिए नहीं बनी थी। जो मकान साधु के लिए बने उसे तो कभी भी उपयोग में नहीं लेना चाहिए। इसी प्रकार बताया गया है कि आधाकर्मी आहार (जो साधु के निमित्त बनाया जाये) सेवन करने वाले, अपने निमित्त आरंभ-संमारंभ की स्थिति को जानते हुए भी यदि उस आहार को ग्रहण करे तो वह साधु संसार सागर से पार नहीं हो सकता बल्कि वह कर्मों का लेप बढ़ाता जाता है। फिर ये जीव साधु के आधारभूत कैसे हुए ?

शरीर निर्वाह के लिए जो कुछ भी आहार के रूप में ग्रहण किया जाता है वह पृथ्वीकाय, अप्काय आदि के मृत कलेवर के रूप में होता है। उसमें पहले जीव रहे होते हैं, पर गृहस्थ अपने लिए उनका उपमर्दन करके आहार तैयार करता है। इस प्रकार वह आहार उस जीव का कलेवर ही होता है, जिसने उस शरीर को बनाया था। यदि हमारे ऊपर कोई चोट करे तो हमें जितनी पीड़ा होती है उतनी ही पीड़ा उन पृथ्वीकाय आदि जीवों को भी होती है। आचारांग सूत्र में बताया गया है कि भले ही व्यक्ति बोल, सुन या देख नहीं सकता हो पर प्रहार से तो उसे पीड़ा होती ही है। उसी प्रकार पृथ्वीकाय आदि जो कोमल जीव हैं उन्हें भी प्रहार से प्रकम्पन होता है तथा अध्यवसायों में उतार-चढ़ाव का वेदन अनुभूत होता है। पृथ्वीकाय आदि जो निशा स्थान हैं उनके प्रति हमारे

भीतर उपकार्य भाव होना चाहिए। कृतज्ञ भाव लेकर चले तो अनर्थ क्रिया नहीं होगी। पर हम इनका स्वरूप ही नहीं जातने। अनावश्यक प्राण व्यपरोपण से पाप का प्रसंग जुड़ता चला जाता है। छः जीव का उपमर्दन करते रहे और साधना की स्थिति में सार्थक प्रयोग नहीं किया तो स्थिति क्या बनेगी ? यह अत्यंत विचारणीय है। साधु गृहस्थ के घर से प्रासुक एषणीय आहार लाकर उसे खा-पीकर यदि साधना में उद्यम नहीं रखता है तो शांतक्रांति के अग्रदूत स्वर्गीय श्री गणेशाचार्य का संकेत माननीय है। वे फरमाया करते थे कि-

गृहस्थी केरा टुकड़ा, लंबा-लंबा दाँत ।
भजन करे तो उबरे, नहीं तो काटे आँत ।

भोजन करके उसके अनुरूप भजन नहीं किया, साधना नहीं की, परमात्मा का स्मरण नहीं किया तो गृहस्थ का वह आहार लेना उसका सार्थक उपयोग नहीं होगा। गृहस्थ बच्चों को वस्तुएँ नहीं देकर संतों को भक्तिभाव से, अहोभाव से बहराते हैं और संत वह खाकर आलस्य-प्रमाद में समय बिताये तो वह हितावह नहीं होगा। उपकार्य में भावना बनेगी कि अपने जीवन को साधना में, भक्ति में लगाऊँ, अन्यथा खा पीकर जिह्वा की तृप्ति के लोभ में पेट में पदार्थ डालकर चलते रहे तो साधना धूमिल हो जाएगी, नाव पलट जायेगी, पानी की गहराई में जीवन झूब जायेगा, कोई छुटकारा नहीं करा पायेगा। कहा भी गया है-

जरा कर्म देखकर करिए, इन कर्मों की बहुत बुरी मार है ।
नहीं बचा सकेगा परमात्मा, फिर औरों का क्या एतबार है ।

भगवान महावीर ने त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में सीसा डलवाया, परिणामस्वरूप भगवान के कानों में कीलें ठोके गये, गजसुकुमाल मुनि के सिर पर तप्त अंगारे रखे गये। जैसे बीज बोये थे, वैसे ही फल मिले। तीर्थकर और चरम शरीरी जीव भी जब नहीं बच पाते तो हम किस खेत की मूली हैं ? कौन बचाएगा ? जैसा बोएंगे वैसा फल मिलेगा। भला करेंगे भला मिलेगा, बुरा करेगा तो भलाई करने वाला नहीं मिलेगा।

बात चल रही थी छः जीव निकाय की। जब ये जीवन के लिए आधारभूत हैं तो उनका उपयोग करके उनके प्रति कृतज्ञ भाव होना चाहिये। उदाहरणार्थ यदि हम आहार करके उसका उपयोग साधना में नहीं करें तो वह उद्धार नहीं करेगा, बल्कि पाप की प्रेरणा का कारण बनेगा और घातक अवस्था का निर्माण करेगा। पृथ्वीकाय का आहार अर्थात् पृथ्वी के जीवों द्वारा मुकुले (त्यागे) पुद्गलों का आहार। उसके बारे में क्या आप कहेंगे कि हम मिट्टी-पत्थर खाते हैं? तब यदि बहनें साग में नमक डालना भूल जायें तो बहनों की खिंचाई तो नहीं की जायेगी, थाली को उलटकर या कटोरी को उछालकर क्रोध तो नहीं किया जायेगा? विचार तो करो, जीवन में कितना नमक खा लिया, पर नमक के अर्थात् पृथ्वी के गुण आये या नहीं? शास्त्रों में कहा गया है- ‘पुढ़विसमे मुणी हविज्जा’ पृथ्वी के सामन हो जाये। जैसे पृथ्वी का कोई मान करे या अपमान, फूल बरसाये या अशुचि कर दे, समभाव रखती है वैसे ही साधक सर्वत्र समभाव रखे।

लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निन्दा पसंसासु, तहा माणवमाणओ ॥

उत्तराध्ययन सूत्र 19/91

लाभ-हानि, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा और मान-अपमान में समभाव रखता है वह मुनि है। मुनि हो या गृहस्थ, सुखाभिलाषी के अध्यवसायों में उतार-चढ़ाव नहीं आना चाहिये। पृथ्वीकाय के मुकुले पुद्गल तो लेते हैं, उनके गुण नहीं लेते। इसलिए जीवन असंस्कारित रह जाता है। हम स्वयं अपने आपको टटोलें कि हम कितने असंस्कारित हैं। पर कोई हमें असंस्कारित कह देता है तो उत्तेजना आ जाती है। सत्य बात सुनने में उत्तेजना लाने की क्या बात? पृथ्वी का उपकार है तो पृथ्वी के गुण भी आने चाहिये। पृथ्वी के समान सहनशील बनना चाहिये ताकि हमारी तितिक्षा पर कोई लांछन न लगा सके। इतना नमक खाया है तो जीवन में उसका ऋण भी चुकायें। अपूर्काय के मुकुले पुद्गल हम

ग्रहण करते हैं। अपूकाय अर्थात् पानी को चाहे कैसी भी परिस्थिति में रखा जाये वह प्रतिकार नहीं करता बल्कि अपना मार्ग बनाता चलता है। चाहे चट्टान भी खड़ी हो जाये तो भी घबराएँ नहीं। वेदवाक्य के अनुरूप ‘चैरवेति-चैरवेति’ को ध्यान में रखते हुए जल के अनुरूप अपने संस्कारों को ढालें। शरीर में जलीय भाग 57 प्रतिशत है और कोई कहते हैं 70 प्रतिशत है तो उसके अनुपात में संस्कार भी आने चाहिये। अग्निकाय के संस्कार कैसे ग्रहण करें ? अग्नि का उपकार इस रूप में है कि वह भोजन पकाने में और शीत में ताप देने का काम करती है। मनुष्य अग्नि का उपयोग करता है। वह अपने आप में एक परम शक्ति है। उस शक्ति से प्रेरणा लें और हार्दिक ऊष्णता को बनाये रखने का कार्य करें। अग्नि के संबंध में कहा गया है-

‘अग्नी विवा सव्वभक्षी भविता’ अग्नि सब खा जाती है। सर्वभक्षी होती है। उसी तरह साधु को चाहिए कि चाहे कोई निन्दा करे, गालिया दे, चुगली करे, कषायों की बौछारें करे, वह समझाव से सब स्वीकार कर ले। लोगों ने अर्जुनमाली अणगार की ऐसा कह-कहकर कि इसने मेरे पिता को मारा, माँ को मारा; भर्त्सना की/प्रहार किये, पर उन्होंने प्रतिकार नहीं किया। किसी ने गाली की बौछार की, किसी ने पत्थरों से मारा, किसी ने लकड़ी से, पर उन्होंने अग्नि का गुण अपना लिया, सारा ताप पी गये। हम भी सर्वभक्षी बनें, क्रोध-बैर, अहंकार आदि की आग को पी जायें। ये गुण नहीं आये तो जीवन संस्कारित कैसे होगा?

वायुकाय के समान बनें, वायुकाय के लिए कहा है- ‘चन्दन तरु हरि संत समीरा।’ चंदन के वृक्ष जंगल में होते हैं समीर उसकी खुशबू को चतुर्दिक फैलाती है। हवा नहीं तो खुशबू कैसे फैलेगी ? संतों को भी चाहिए तीर्थकरों की वाणी प्रसृत करें। एक-एक व्यक्ति के मन को प्रभु की देशना से आप्लावित करें। वायुकाय के संस्कार अपनायें। यह नहीं कि श्रावकों को प्रसन्न करने के लिये मनोरंजन की बातें करने लगें और सत्य कहने से इसलिये बचें कि कहीं श्रावक नाराज न हो जायें। यदि

ऐसा विचार किया तो कर्तव्य पालन कैसे कर पायेंगे ? वनस्पतिकाय को 'दीर्घलोक' कहा है। इस लोक में कोई भी ऐसा स्थान नहीं है जहाँ वनस्पति न हो। ऐसी वनस्पति के मुकुले पुद्गल ग्रहण करते हैं तो अपने व्यक्तित्व को भी उसके समान विराट बनाईये। त्रसकाय को भी सुख-दुःख की अनुभूति होती है। इसलिये 'सर्वजन्तु हितकरणी करुणा' के माध्यम से दूसरों को भी सुखी बनाने का प्रयत्न करें। प्रश्न होगा ? त्रस के मुकुले पुद्गल का उपयोग कैसे होता है ? श्रावक द्वारा तो जूते आदिके रूप में किसी प्रकार उपयोग होता है और साधु के द्वारा बीमारी आदि के प्रसंग में चर्म के उपयोग करने का प्रसंग बनता है। उनके द्वारा दूध का उपयोग किया जाता है और पौष्ठ के रूप में गौमुत्र का उपयोग भी किया जाता है। छः जीव निकाय का हम पर उपकार है। यदि हम इन्हें नहीं बचायें, इनके प्रति हमदर्दी नहीं रखें तो कृतज्ञता कैसे ज्ञापित होगी ? जीवन निर्वाह के लिए कई रूपों में इनकी हानि करनी पड़ती है। वहाँ अर्थ क्रिया है पर अनावश्यक रूप से फूल-पौधों को नष्ट करना जहाँ धातक है, वहीं वह अनर्थ क्रिया भी है जिससे प्रभु ने बचने का संकेत किया है। कृतज्ञ भाव जागने पर अवशिष्ट पदार्थों का व्यर्थ उपयोग नहीं होगा। उन्हें फेंकना पड़ेगा तब आत्मा में पीड़ा होगी। तपस्वीराज श्री अमरसुनिजी म. सा. को जब कभी धोवन पानी भी व्यर्थ में डालना पड़ता था तो उन्हें पीड़ा होती थी। वे कहते थे कि कितने जीवों का उपमर्दन होने पर यह बना है। इसकी बरबादी करने पर अजीव काय का असंयम होता है। वैसे भी उपकार के प्रति उपकार्य भाव नहीं रखना अकृतज्ञता है। जब नैतिक धरातल पर भी यह त्याज्य है तो फिर धार्मिक क्षेत्र में उपादेय कैसे हो सकता है ? हमें पहले नैतिक बनना होगा, फिर धार्मिक, उसके पश्चात् आध्यात्मिक। धर्म के पश्चात् आध्यात्म का शिलान्यास होता है। यदि हमें धार्मिक और आध्यात्मिक बनना है तो आवश्यक है कि अर्थ क्रिया और अनर्थ क्रिया का स्वरूप समझकर हम आज से ही जीवन में अनर्थ क्रिया से बचने का अभ्यास प्रारंभ कर दें तथा इसे जीवन में प्रतिदिन अपनाने का अभ्यास करें। ऐसा स्वभाव बना लेने पर ही हमें शांति की

अनुभूति होगी तथा प्रत्येक प्राणी के साथ तादात्म्य संबंध स्थापित होगा । तादात्म्य भाव का आनंद अनूठा होता है । आह्लाद भावों के साथ ही प्रभु की प्रार्थना से आत्मा में शीतलता की अनुभूति जागृत करने का सफल अभ्यास करें, तभी हम शीतल जिनपति की उपासना के सच्चे अधिकारी बनेंगे और तभी यह प्रार्थना करना भी सार्थक होगा-

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी, विविध भंगी मन मोहे रे ॥

दि. 08.10.96



संस्कारिता जीवन की आवश्यकता

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी, विविध भंगी मन मोहे रे ।
करुणा, कोमलता, तीक्षणता, उदासीनता सोहे रे ॥

असंस्कारिता जीवन का मूल स्वभाव नहीं है परन्तु आज उसे स्वभाव मान लिया गया है। कहा जाता है कि मनुष्य तो कमजोरियों का पुतला है। ज्व मततवत पैनउंद अर्थात् गलती करना मनुष्य की प्रकृति अथवा स्वभाव है। अंग्रेजी की यह कहावत इसी तथ्य की ओर संकेत करती है। यह भी कहा जाता है कि मनुष्य इन्द्रियों का दास है, वे उसे जिस ओर खींचती हैं उसी ओर वह चल पड़ता है। मनुष्य के स्वभाव के संबंध में ऐसी भ्रान्तियाँ अनादिकाल से चल रही हैं। उक्त प्रकार यदि मनुष्य का स्वभाव मान लिया जाता है तो उसका भी कारण है। परन्तु उसका ज्ञान न होने से मनुष्य के स्वभाव के संबंध में भ्रान्तिपूर्ण चित्रन अमरबेल की तरह फैल गया है और मनुष्य के जीवन के रस को अर्थात् मनुष्य में ईश्वर के निवास के चित्रन को वह लगातार सौंखे जा रहा है। परिणामस्वरूप असंस्कारिता को फैलने के लिये विस्तृत क्षेत्र मिल गया है और अब तो असंस्कारित अवस्था को हमने सहचरी भाव के रूप में संयोजित कर लिया है जिसे उसके साथ साहचर्य स्थापित हो गया है और तदनुरूप भाव भीतर भी बनने लगे हैं। इसलिए कहा गया है कि सत्संगति करो। संतों की संगत करो, असंस्कारित पुरुषों की नहीं अन्यथा जैसी संगत होगी वैसा ही जीवन का विकास होगा। लता के स्वभाव के संबंध में हम जानते हैं कि उसे अन्य आधार की जरूरत होती है। यदि उस छोटे

डंडे का आधार मिला तो वह वहीं तक उठेगी । यदि लम्बे बांस का सहारा मिला तो वह भी उस ऊँचाई तक उठ जायेगी । हम कई बार विहार के दौरान देखते हैं कि जिस लता को थोड़ा सहारा देकर कच्चे मकानों की छत पर चढ़ा दिया जाता है, वह लता छत पर अपना फैलाव कर लेती है । इस प्रकार आधार के अनुरूप वह फैल जाती है । यदि हमें भी फैलाव करना है तो हमें भी वैसा ही आधार ढूँढ़ना होगा । अब तक हम अज्ञान में रहे, हमें ज्ञान नहीं था । जैसा साहचर्य मिला उसी में घुलते-मिलते चले गये । परिणामस्वरूप आत्मा पर दया, अनुकम्पा, करुणा नहीं कर पाये । अब हमें बोध हुआ है । अब हम समझने लगे हैं कि इन पर पुद्गलों से ठगाया जाता रहा हूँ । कहा जाता है- ‘ठगोरी काया तूँ मनें ठग ठग खाया ।’ संत कवि कबीरदास ने लिखा है-

माया महाठगिनी हम जानी,
तिरगुन फाँस लिये कर डाले, बोले मधुरें बानी ।
कहे कबीर सुनो भाई साधो, यह सब अकथ कहानी ॥

कैसे ठगा है, आप समझते हैं । इस पौद्गल काया ने आत्मा रूपी काया को ठगा है । जरा विचार कीजिये आप किसी दुकान पहुँचे, मालूम पड़ा कि यहाँ ठगाई होती है तो क्या दूसरी बार आप वहाँ जाएंगे ? सहसा समझदार व्यक्ति ठगाने के लिए वहाँ नहीं जायेगा । वह तो सम्पर्क में आने वाले से भी कहेगा- उस दुकान पर ठगाई होती है, वहाँ मत जाना । पर आपकी इस दुकान में ठगाई हो रही है और आप इसे अपनाये बैठे हैं । काया ठग रही है, पर न जाने कैसी दोस्ती हमने इससे बना रखी है । हमें ठगते हुए यह हमारे भीतर का रस चूस रही है, विकृति पैदा कर रही है और हम इन सबसे बेखबर हैं । आज आत्मा को पीड़ा हो रही है उसका कारण क्या है ? जरा इस पर विचार करें ? विकारी तत्त्वों का हमने सहारा लिया और वे आत्मा में घुलमिल गए । वे भी अनायास दोस्त नहीं बन सकती । विश्वास में लेकर, दोस्ती बढ़ाकर, हमारा थोड़ा हित साधकर फिर ठगाई करता है । ये पौद्गलिक तत्त्व पहले हमें जिस थोड़े

सुख या आनंद की अनुभूति कराते हैं वस्तुतः वह सुख नहीं होता बल्कि पुद्गलों की, कर्मों की पैंतरेबाजी होती है। पुद्गलों का साथ कहीं छूट न जाये इसलिये कर्म सुखाभास के पैंतरें फैंककर उन्हें अपने अधीन कर लेता है। अधीन बनाकर आत्मा का दोहन करते हुए वह विषेले चिंतन को प्रोत्साहित करता है। परिणामस्वरूप हमारी जीवन शक्ति कुंठित होती जाती है। जीवनी शक्ति प्रकट नहीं हो पाती और व्यक्ति समझ नहीं पाता कि क्या हो रहा है ? वैज्ञानिक आश्चर्यचकित हैं कि कैसे ३ लाख ६२ हजार क्लोरोइड कार्बन आकाश में जाकर ओजोन छतरी में छिद्र करने लगे हैं। वैज्ञानिक तो इसी दिशा में चिंतन कर सकते हैं क्योंकि यही उनकी सीमा है। आत्मा तक उनकी पहुँच नहीं है और जहाँ तक पहुँच होती है, वहीं तक चिंतन किया जा सकता है। परन्तु आप विचार करें कि हमारे भीतर क्लोरोराइड कार्बन कितना बनता है जो आत्मा तक पहुँच रहा है। क्योंकि उसी के कारण व्यक्ति दुःख, द्वंद्व, तनाव आदि से ग्रस्त रहता है। अलगाव और निराशा की यह स्थिति एक प्रकार का चिङ्गाचिङ्गापन पैदा कर देती है। परिणामस्वरूप समाज से भी वह अपने को कटा हुआ अनुभूत करता है।

सूनापन, समाज में एकाकीपन, हताश आदि के भाव हम क्यों बनते हैं ? क्या इसका हम कभी अन्वेषण करते हैं ? ये प्रभाव क्यों हमें ग्रस्त कर रहे हैं ? इसके लिए आवश्यकता है स्वस्थ चिंतन की। स्वस्थ चिंतन तब ही बन सकता है जब हम अवस्थाओं से उपरत होकर स्वस्थ स्वरूप की ओर उन्मुख हों। व्यक्ति कहता है- आत्मा दिखती नहीं है उसके कैसे दर्शन करें ? पर ऐसे आग्रही चिंतन से दर्शन नहीं होंगे। मोतियाबिंद के प्रारंभ में नहीं लेकिन जब वह पकने की स्थिति में पहुँच जाता है तब सामने कौन है, यह दिखाई नहीं देगा। यदि दिखेगा भी तो धुंधला दिखेगा। ये स्वाभाविक स्थिति नहीं है बल्कि विभाव है। इसी प्रकार असंस्कारों का मोतियाबिंद आत्मदर्शन में अवरोधक है।

मैं जानूं हरि दूर है, हरि हिवड़े के मांय ।
आड़ी टाड़ी कपट की तां सूं दीखत नांय ॥

हरि भीतर है पर हमने दीवार चुन ली है, बीच में पार्टीशन लगा दिया है, अतः पर्दे के पार कौन बैठ है यह नहीं देख पा रहे हैं, न ही उसकी अनुभूति कर पा रहे हैं। जैसे मोतियाबिन्द से ग्रस्त आँखों का ऑपरेशन कराना पड़ता है उसी प्रकार आत्मदर्शन में बाधक जो तत्व है उसका ऑपरेशन करना आवश्यक है। उस ऑपरेशन में पैसे की फीस देनी होती है जो जमा करा सकते हैं, पर यहाँ फीस पैसों की नहीं है, श्रद्धा की है, समर्पणा की है। श्रद्धा, समर्पणा यदि अंतर में प्रादुर्भूत हो जाये तो उसी उपकरण से आध्यात्मिक मोतियाबिन्द का सफाया किया जा सकता है और आत्मदर्शन की क्षमता प्राप्त की जा सकती है। तब सच्ची अनुभूति मिल जावेगी। श्रद्धा के शस्त्र से ऑपरेशन होने के बाद बाहर की ज्योति, जब भीतर प्रवेश कर जायेगी तब उसके आलोक मे हम आत्मदर्शन कर पायेंगे तथा अपने स्वभाव मे स्थित हो पायेंगे। दर्शन तो जब मिलेंगे तब मिलेंगे, पर हमें उस गुणमय व्यक्तित्व को सदैव सन्मुख रखना चाहिये जिससे देव, गुरु और धर्म के प्रति अविचल श्रद्धा का स्रोत हमारे भीतर उद्भुत होता रहे। कामदेव श्रावक के उदाहरण से समझें, कितने उपसर्ग उस पर आए, पर उसकी अडिग श्रद्धा और अविचल समर्पणा बनी रही। यही धर्म था। यह धर्म तभी हमारी रक्षा कर सकता है जब हम इसकी रक्षा करें। कहा भी है- धर्मो रक्षिति रक्षितः ।

आज व्यक्ति कहता है- इतना धर्म करते हैं फिर भी धर्म हमारी रक्षा नहीं करता, यह संकुचित चिंतन है। जरा सोंचें- की हम धर्म को कब तक स्थान देते हैं। थोड़ी-सी प्रतिकूलता आई और हम विचलित हो जाते हैं, सारी प्रतिज्ञाएँ भूल जाते हैं। क्या यही धर्म का स्वरूप है ? यही गुरु का स्वरूप है ? एक व्यक्ति ने साधु जीवन स्वीकार कर लिया, हो गया वह आपका गुरु। पर क्या हम जानते हैं कि गुरु का स्वरूप क्या है ? इस तथ्य को समझें। चार प्रकार के भंग बताये गये हैं- 1. एक व्यक्ति ने

साधु जीवन स्वीकार कर लिया पर साधुचर्या का पालन नहीं करता। 2. एक व्यक्ति साधुचर्या का पालन करता है पर उसने साधु जीवन स्वीकार नहीं किया। 3. एक ने साधु जीवन स्वीकार भी किया और साधुचर्या का पालन भी करता है। 4. एक न तो साधु जीवन स्वीकार करता है न साधुचर्या का पालन करता है। इन चारों में जो साधु जीवन स्वीकार करके साधुचर्या का पालन करता है, वही है गुरु। वह नहीं, जिसने साधु जीवन स्वीकार तो कर लिया पर साधु धर्म की पालना नहीं करता। जो भावों से साधु जीवन का पालन तो करता है पर जिसने साधु की पोशाक धारण नहीं की उसे भी व्यवहार में, गुरुपद के लिए स्वीकार नहीं किया जा सकता। व्यवहार में लिंग की भी अपेक्षा है। ‘लोगे लिंग पओयण’ लिंग का भी प्रयोजन है। श्रद्धा के लिए, विश्वास के लिए इसका विशेष रूप से प्रावधान है। ऐसा इसलिए है कि कदाचित् वह निरुत्साहित हो जाये, उसके पाँव लड़खड़ाने लगे तो पोशक की लज्जा से ही वह पुनः स्थित हो जाये। इस प्रकार स्पष्ट है कि जो व्यक्ति साधु जीवन स्वीकार करके उसकी मर्यादा की पालना भी करता है वही गुरु-पद के योग्य है। ऐसे गुरु को तथा धर्म को स्वीकार करके हम संस्कारित बन सकते हैं। तब हम समझ लें कि जब हम त्याग की एवं धर्म की रक्षा करेंगे तभी वह धर्म हमारी सुरक्षा करेगा अन्यथा धर्म के नाम पर लम्बी-चौड़ी डींगें हाँकते रहे परन्तु परिस्थितियों के साथ समझौता कर धर्म को किनारे रख दें तो हमारी सुरक्षा संदिग्ध हो जायेगी। हम जानते हैं कि सेठ सुदर्शन के लिए शूली का सिंहासन बन गया था। क्या उनकी परीक्षा नहीं हुई थी? महाराज ने अनेक प्रकार से पूछा, पर वे दृढ़ रहे थे। एक बार आसाम में एक आंदोलन हुआ। आसाम के दो भाग हैं- एक भाग कछार है जहाँ बंगला भाषा का प्रयोग होता है, दूसरे भाग में असमी भाषा प्रयुक्त होती है। असम सरकार ने यह निर्णय लिया कि सम्पूर्ण राज्य के कामकाज में असमी भाषा का ही प्रयोग किया जाये। बंगालियों को यह बात अच्छी नहीं लगी। उन्होंने निर्णय लिया हम अपनी मातृभाषा नहीं छोड़ सकते। वहाँ नारे भी जारी हुए- हम रक्त और जान

देने के लिये तत्पर हैं पर अपनी भाषा नहीं देंगे। आज स्थिति यह है कि हम रक्त और जान तो दूर, धर्म तक देने के लिए तैयार हो जाएंगे। हम कह सकते हैं, जान रह गयी तो धर्म फिर और कर लेंगे, पर जरा ये तो सोचो जो धर्म आपके पास से चला गया वह फिर आयेगा कैसे ? ऐसे क्षणों में हम धर्म छोड़ने को तत्पर हो जाते हैं, पर धर्म पर दृढ़ रहने की तैयारी नहीं करते। याद रखने की बात है कि धर्म रक्षा करता है और जिसकी वह रक्षा करता है, उसका कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता।

जाको राखे साइयाँ, मार सके न कोय ।
बाल न बांका करि सके, जो जग वैरी होय ॥

सेठ सुदर्शन यदि कुछ कह देता तो भी वहाँ धर्म की हानि नहीं हो रही थी। पर उसने विचार किया, मैं पौष्टि व्रत में हूँ। आत्मा का पोषण कर रहा हूँ। अपनी आत्मा के समान सभी की आत्मा को मान रहा हूँ। यदि मैं महारानी अभया के लिए कुछ कहता हूँ तो उन्हें पीड़ा होगी। उनकी पीड़ा मेरी आत्मा की अपनी पीड़ा है। विचार करें, आज हम भी जब पौष्टि करते हैं तब कहीं थारी-म्हारी दुनियादारी में तो नहीं पड़ जाते हैं ? यदि ऐसा करते हैं तो कहाँ रह जाता है धर्म और पौष्टि। सुदर्शन मौन में अवलम्बित रहे। शूली का आदेश हुआ, फिर भी अविचल। जान चली जायेगी तो चली जायेगी, पर धर्म नहीं छोड़ूँगा। हम तो छोटी-छोटी बात पर धर्म छोड़ने के लिए तत्पर हो जाते हैं। जिस धर्म को हम नहीं रखेंगे वह धर्म हमारी रक्षा कैसे करेगा ? धर्म के अभाव में ऋद्धि टिक नहीं पायेगी। घर में ऋद्धि नहीं होती तो क्लेशमय वातावरण बनता है।

इस संबंध में एक प्रसंग है। राजा भोज मार्ग से निकल रहे थे। एक ब्राह्मण के घर के भीतर कोलाहल हो रहा था। राजा भी सुनने लगा। घर में तीन प्राणी थे- ब्राह्मण, उसकी पत्नी और माता। पर तीनों त्रिकोण के तीन कोणों की भाँति अलग-अलग थे। राजा ने ब्राह्मण को दरबार में बुलाया- तुम्हें किस बात का दुःख है ? उत्तर मिला- घर में माता कहती है- तू दिनभर बैठा रहता है। कमा-धमा कर नहीं लाता, रोटी बनाऊँ कहाँ

से, निर्वाह कैसे होगा ? मैं कमाने जाऊँ तो जाऊँ कैसे, पेट में गड्ढे पड़ रहे हैं। भूखे काम नहीं होगा। पत्नी के बारे में कहता है- जबसे यह कर्कशा आई है, सारी सम्पत्ति खा गई। पत्नी ने कहा था- जब से घर में आई हूँ कभी न राता पहना न ताता खाया। पति कहता है- इस चण्डिका ने सर्वनाश कर दिया।

राजा ने द्वारा झगड़े का कारण पूछने पर ब्राह्मण कहता है- मुझे मालूम नहीं, झगड़ा क्यों होता है। पर मेरी माता से नहीं बनती, माता की मेरे से नहीं बनती। बहू की सास से और सास की बहू से नहीं बनती और हम पति-पत्नी में भी छत्तीस का आंकड़ा है। राजा समझ गया कि घर में धन नहीं है इसीलिए झगड़ा है। राजा ने भंडारी से 1000 मोहरें ब्राह्मण को दिला दी। उसके बाद जब उस मार्ग से निकला तब उसने देखा कि उस घर में क्लेश नहीं था। शीत वातावरण था। जीवन जब तक असंस्कारित है क्लेश फैला रहेगा। संस्कारों की ऋद्धि आई, मोतियाबिन्द हटा, फिर हम आत्मदर्शन कर पाएंगे।

यह तो एक रूपक है। सुसंस्कार धन हैं। यदि परिवार जन सुसंस्कारित नहीं हैं तो परिवार में क्लेश, अशांति और असंतोष की स्थितियाँ बनी रहेंगी। लेकिन जैसे ही कोई शुभचिंतक सुसंस्कारों के बीज बो देगा, वैसे ही जीवन में शांति, व्यवस्था, संतोष और आनंद की स्थितियाँ बन जायेंगी। असंस्कार ही मोतियाबिन्द हैं, जो आत्मदर्शन में बाधा उत्पन्न करते हैं। संस्कार आये, मोतियाबिन्द का ऑपरेशन हुआ, ऋद्धि आयी कि आत्म-साक्षात्कार और शांत जीवन की स्थितियाँ बन गईं।

दि. 09.10.96



अहं का विष वृक्ष

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी विविध भंगी मन मोहे रे ।
करुणा, कोमलता, तीक्षणता, उदासीनता सोहे रे ॥

तीर्थकर देव प्रभु महावीर ने केवलज्ञान एवं केवलदर्शन का आलोक प्राप्त किया और उस आलोक में चराचर जगत् के समस्त पदार्थों का ज्ञान भी उपलब्ध कर लिया । उसी ज्ञान से उन्होंने यह भी जाना कि भव्य जीवों के लिये क्या हितकर है और क्या अहितकर । साथ ही कहा कि तुममें इतना ज्ञान नहीं है कि तुम यह सब समझ पाओ । क्योंकि तुम्हारा जीवन असंस्कारित है । इस असंस्कारित अवस्था में यदि आलस्य और प्रमाद में पड़े रहे तो जो ज्ञान होना चाहिए उसे भी तुम उपलब्ध नहीं कर पाओगे । एक तो जीवन है असंस्कारित फिर उसमें भी प्रमाद का पुट तो वह गर्त में ही ले जाने वाला होगा, उत्कर्ष को प्राप्त नहीं करायेगा । प्रमाद, अधोगामी बनाता है । इसलिये उसके उर्ध्वगामी परिणाम नहीं निकलते । अधोगामी गति, दिमाग के फितुरों और शेखचिल्ली की कल्पनाओं को जन्म देती है । प्रमादी व्यक्ति करता-धरता कुछ नहीं, कल्पना लोक में ही विचार करता रहता है । जब वह कुछ करता-धरता ही नहीं तो किसी भी प्रकार का लाभी भी कैसे हो सकता है । एक व्यक्ति मिठाई के या आहार के विषय में विचार ही करता रहे तो इतने मात्र से उसका पेट नहीं भरेगा । भोजन करने पर या मिठाई मुँह में रखने पर ही उसका जायका मिल पायेगा । यदि कोई व्यक्ति हलवाई की दुकान में दिनभर बैठकर पचासों प्रकार की मिठाईयाँ देखता रहे, जिन्हें पहले कभी उसने चखा नहीं

हो तो वहाँ गंध तो भले लेता रहे पर उनका स्वाद कैसा है यह वह बता नहीं पायेगा। बता भी कैसे पायेगा जब उसने स्वाद कभी लिया ही नहीं।

तीर्थकर प्रभु हमें असंस्कारित कह रहे हैं, इसका कारण है हमने लायब्रेरी तो सजा ली है पुस्तकों की या अक्षर ज्ञान तो प्राप्त कर लिया है, पर कभी अध्ययन का निवाला भी नहीं लिया। किताबों का ज्ञान तो किताबों में ही रह जायेगा, आपके पल्ले क्या पड़ेगा ? ऐसा ज्ञान तो कम्प्युटर या टी.वी. को भी हो जाता है। आज ऐसे भी कम्प्यूटर हैं जिनमें हमारे शास्त्र भर दिए गए हैं। आप प्रारंभ से के दो अक्षर दे दीजिए, कम्प्युटर उन दो अग्र अक्षरों की सारी गाथाएँ एक साथ निकालकर दे देगा। वैसे ही आपने अपने दिमाग में यदि कम्प्यूटर फिट कर लिया है, तो आपकी क्या विशेषता ? वह तो भरे थाल की भाँति पड़ा रहेगा, आपके किस काम का। प्रमाद में पड़ने पर चाहे कितना भी किताबी ज्ञान हो, तीर्थकर की देशनारूप मिठाई भी मिल गई हो और आप देख-देखकर प्रसन्न भी होते रहें कि हमारे पास इतनी मिठाई है, पर जब चखी ही नहीं तब उसके होने की उपयोगिता क्या ? आपके पास तिजौरी है पर उसे खोल नहीं पाये तो उसमें बन्द सम्पदा क्या काम आयेगी। परन्तु हम उसी पर गौरवान्वित हो रहे हैं। हम कहते हैं कि तीर्थकरों द्वारा प्रदत्त प्रचुर आगम, साधन मौजूद हैं, पर हकीकत में हम साथ क्या ले जाने वाले हैं। वहाँ जब गणित करेंगे, हिसाब लगाएंगे तो जिन्दगी के उन उत्तर क्षणों में रोना ही रह जायेगा। तब सोचेंगे मैंने महापुरुषों की सेवा की पर जीवन को असंस्कृत ही रखा। मैंने चखा क्या, लिया क्या ? कुछ नहीं ले पाया यह पश्चात्ताप रह जायेगा।

एक व्यक्ति नदी किनारे दिनभर बैठा रहे तो बैठे रहने से प्यास नहीं बुझेगी। इसीलिये प्रभु कह रहे हैं कि असंस्कारित जीवन है और फिर प्रमाद में बैठे रहे, तो नदी का प्रवाह तो निकल जायेगा। अतः प्रमाद छोड़ो, पाने की कोशिश करो। व्यक्ति सोचता तो बहुत है पर क्या सोचने मात्र से कोई उपलब्धि हो सकती है ? एक राजा ने सोचा- एक अनोखा

बगीचा लगवाऊँ । जहाँ सम्पत्ति का योग होता है वहाँ कल्पना को मूर्तरूप देने में देर नहीं लगती । विचारों के अनुरूप राजा ने एक बगीचा लगवाया, जिसमें अनेक पौधे थे । ये पौधे आम, खजूर आदि के नहीं सत्य, धर्म, भक्ति, ईमानदारी, प्रेम, स्नेह और करुणा के थे । उन पौधों की सुरक्षा राजा स्वयं की निगरानी में करता और नियमपूर्वक खाद-पानी बराबर देता । निरन्तर कर्मठ सेवा से वे पौधे लहलहाने लगे । थोड़े ही समय में राजा का बगीचा ही नहीं बल्कि उन अद्भुत पौधों के कारण सारा नगर सुहावना लगने लगा । कोई भी वहाँ पहुँचता तो मुग्ध हो जाता । वह एक ऐसा नगर बन गया, जहाँ असत्य, बेर्इमानी जैसे कोई दुर्गुण नहीं थे । बात कल्पना की नहीं वास्तविकता की करते हैं । भारतवर्ष एक समय ऋषि-भूमि कहलाता था । तब यहाँ सत्य, प्रेम, त्याग, धर्म, अध्यात्म आदि के पौधे लहलहाते थे । आज स्थिति बदल गई है । भक्ति व धर्म के तो पौधे फिर लहलहाते दीख रहे हैं, परन्तु उस भक्ति व धर्म का स्वरूप विकृत हो गया है । उनके सच्चे स्वरूप को जानने की स्थिति भी कम हो गई है । कितने दुःख की बात है कि उस देश में आज अभक्ष्य एवं व्यसन का सेवन हो रहा है । एक समय यहाँ दूध-दही की नदियाँ बहती थी, आज शराब की नदियाँ बह रही है । छुटपुट अपवाद आज भी मिल जाते हैं, जैसा प्रवास के दौरान एक आदर्श गोठन के पास सड़क पर ही बसे पटेलों के गाँव में दिखाई दिया । व्यसनों पर बात चली, संतों के उपदेश भी हुए, गाँव वालों ने बताया कि हमारे गाँव में एक भी दुकान ऐसी नहीं है जिसमें बीड़ी, सिगरेट, तम्बाखू मिलता हो । यदि कोई बाहर का मेहमान भी आये तो वह बीड़ी, सिगरेट का सेवन नहीं कर सकता । परन्तु ऐसे गाँव कितने हैं? आज तो स्थान-स्थान पर चौराहों पर, दुकानों पर, बीड़ी, सिगरेट, गुटखों के पाउच लटकते दिखाई दे जाएंगे । बड़े शहरों में तो अण्डों से भरी ट्रे और पिंजरों में बंद पक्षी भी बिकते हुए दिख जायेंगे । जरा सोचें कि कहाँ जा रही है हमारी स्थिति, शक्तियों का स्रोत किधर बह रहा है ।

राजा ने देखा कि सारा वातावरण आहलादमय था । वह नगर में घूमा तो फूल कर कुप्पा हो गया । सारे नगर की ख्याति आस-पास फैल

चुकी थी। एक दिन वह धूमते-धूमते बगीचे में आ पहुँचा। उसने एक नया पौधा देखा, जिसे रोपा नहीं गया था। वह स्वतः पैदा हुआ था। वह पौधा देखने में सुन्दर तथा मन को भाने वाला था। राजा ने सोचा- पड़ा है पड़ा रहने दो। कटा कर क्या करूँ। कुछ ही दिनों में वह पौधा बढ़कर वृक्ष में परिणत हो गया। राजा ने प्रमाद किया था। परिणामस्वरूप उस वृक्ष ने अपनी जड़ें जमा ली थीं। अब उसमें फल भी आ गये। इतने सुन्दर कि व्यक्ति देखकर बरबस ही उनकी ओर आकृष्ट होते। एक दिन राजा ने देखा बगीचे की सारी सुरम्यता नष्ट हो रही थी। भयंकर बदबू आ रही थी। राजा विचारमग्न हो गया, यह बदबू कहाँ से आ रही है? वह चारों ओर धूमा। एक जगह तो मानो नाक फटने लगी। ओफ। मैंने प्रमाद किया इसी कारण थोड़े से समय में ही सारी बगिया का वातावरण दूषित हो गया। यह इन सुन्दर फलों का ही प्रभाव है। आखिर ये कौन से फल हैं? यह किसका वृक्ष है? राजा ने नगर के प्रबुद्धजनों को बुलाया और उनसे भी पूछा। उन्होंने भी कहा- हम भी नहीं जाते थे कि यह किसका वृक्ष है। राजा ने सोचा- जानकारी तो करनी चाहिये। संयोग से भ्रमण करते हुए एक संत पधार गए। राजा को जिज्ञासा थी ही और सुना कि संत फक्कड़ हैं, पहुँचे हुए हैं अतः जिज्ञासा लेकर पहुँचा उनके पास। उपासना करने के पश्चात् कहने लगा- भगवन्! एक प्रश्न का समाधान चाहता हूँ। संत ने कहा- बोलो भाई, क्या प्रश्न है? राजा ने अधोपान्त सारी बात कह दी और पूछा उस सुन्दर किन्तु दुर्गन्धयुक्त वृक्ष का नाम क्या है? संत ने पूछा- क्या मैं वहाँ चल सकता हूँ? राजा ने हाँ कर दी और संत के साथ पैदल ही उस ओर चला। अचानक भयंकर दुर्गन्ध से नाक फटने लगी। राजा ने तो कपड़ों से नाटक ढंक ली किन्तु संत अपनी मस्ती में चलते रहे। वृक्ष के पास पहुँचकर राजा ने कहा- महात्मन् यही है वृक्ष। महात्मा ने देखते ही कहा- यह वृक्ष तो विष वृक्ष रूप में पहचाना जाता है। यह वृक्ष पैदा हो जाये और व्यक्ति प्रमाद में रहे तो सारी सुख-शान्ति समाप्त कर देता है। यह ‘अहं का विष वृक्ष’ है। अहं पैदा होकर शीघ्रता से बढ़ता है। उसका रूप बहुत सुहावना लगता

है। कभी भी कोई विपरीत स्थिति आई तो वह बचाव के लिए खड़ा दिखाई देता है। व्यक्ति समझता है यह मेरा हितैषी है और प्रमाद से ग्रस्त हो जाता है। वृक्ष बढ़ता रहता है और दुर्गन्ध उत्पन्न करने वाला बन जाता है। कहते हैं कि तीर्थकर के पसीने में दुर्गन्ध नहीं आती, वासना उन्हें प्रभावित नहीं कर सकती। ऐसा कैसे हो सकता है क्योंकि शरीर जैसा हमारा है, उनका भी है। परन्तु उन्होंने चित्तवृत्तियों का परिमार्जन कर लिया होता है। लेश्या का परिवर्तन कर लिया होता है। उसके तदनुरूप ही शरीर के परिणमन भी दृष्टिगत होते हैं। परिवर्तन होने पर वहाँ दुर्गन्ध नहीं रह सकती। शरीर गंध भी अलग-अलग अवसरों पर अलग-अलग प्रकार की प्रकट होती है। हमारे विचारों के अनुरूप ही गंध का परिणमन होता है। भय और वासना के समय भिन्न प्रकार की गंध पैदा हो जाती है। वैज्ञानिकों ने भी शोध की है। पशु में जब वासना के भाव जागृत होते हैं तो वे पहले मादा को सूंघते हैं, वे जानना चाहते हैं कि मादा में भी वैसे भाव हैं या नहीं। यदि वे भाव जागृत नहीं हैं तो वे उसका सेवन नहीं करते। भय की स्थिति में अलग ही गंध पैदा होती है। कुत्ता सड़क पर सोया होता है, बहुत से व्यक्ति मार्ग से निकलते हैं, वह नहीं चौंकता। पर यदि वहाँ से चोर निकले या शराबी निकले तो वह भौंकने लगता है। कारण क्या है ? उसने उनके हृदय में उत्पन्न भय की गंध को तत्काल ग्रहण कर लिया होता है और वह समझ जाता है कि यह व्यक्ति सही नहीं है। गंध के प्रभाव को एक पशु भी शीघ्रता से ग्रहण कर लेता है, पर मनुष्य कहाँ पहचान पाता है। गंध बनती है लेश्या और अध्यवसायों के प्रभाव से।

उत्तराध्ययन सूत्र के 24 वें अध्ययन में लेश्याओं के वर्णन में बताया गया है कि लेश्या की गंध कैसी होती है। मृत सर्प के कलेवर के सड़ने पर कैसी गंध आती है, वैसी गंध कृष्णलेश्या के परिणाम से पैदा होती है। तीर्थकर के भावों में वासना नहीं होती है क्योंकि वहा विष वल्लरियाँ, विषवृक्ष नहीं होते। इसी कारण उनके निकट दुर्गंध नहीं आती।

एक व्यक्ति के पास आप घंटों बैठ सकते हैं और एक व्यक्ति के पास खड़े रहने को भी जी नहीं करता। सुबाहुकुमार का वर्णन सुनकर गौतम गणधर कह रहे हैं- क्यों लगता है कि सुबाहुकुमार बैठा रहे। आप जब आचार्य भगवन की सेवा में बैठते हैं तब यदि 6 घंटे भी निकल जायें तो मालूम नहीं पड़ता कि 6 घंटे निकल गये। नहीं तो अन्यत्रा 2 घंटे बिताना भी मुश्किल पड़ता है। एक शराबी के पास 2 मिनट भी खड़े रह गये तो लगेगा यह जल्दी जाये तो अच्छा। एक का हम सानिध्य चाहते हैं और एक के संबंध में चाहते हैं कि वह शीघ्र रवाना हो, यह अंतर है भीतरी गंध के कारण। संत ने राजा को बता दिया कि वह विषवृक्ष था। प्रमाद के कारण बढ़कर उसने प्रेम, सत्य, मैत्री आदि के पौधों को नष्ट कर दिया था। असंस्कारों के कारण उसने प्रमाद को पनपाया था और इस कारण सारी रौनक को मटियामेट कर लिया था। विष वृक्ष को अंकुरित होते ही यदि समाप्त कर दिया जाता है तो शायद ऐसी स्थिति नहीं आती। हमारे भीतर सत्य, प्रेम, भक्ति आदि के पौधों पर असंस्कारों की छाप है। एक तो असंस्कार, ऊपर से प्रमाद का सहयोग मिला, स्थिति वही बनी कि एक तो अमावस्या की काली रात, फिर उमड़ते-घुमड़ते-काले कजरारे बादल, अंधकार और भी घनीभूत हो गया। इसीलिए प्रभु ने उपदेश दिया है कि ‘असंख्यं जीविय मा पमायए।’ हम समझ लें कि असंस्कारों की चादर को प्रमाद का योग और अधिक घनीभूत कर देगा। उस स्थिति में ‘स्व’ का बोध नहीं हो पायेगा। सूर्य के प्रकट होने पर जैसे बादल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं वैसे ही अप्रमत्त भाव से यह काली घटा दूर हो सकती है और सुसंस्कारित जीवन के सानिध्य से परिष्कार संभव हो सकता है। इस संबंध में मनोवैज्ञानिकों ने खोज की है, पर वे भी असफलता से काफी दूर हैं। हम जानते हैं कि जैसे ही सूर्य पूर्व दिशा में आता है धरती का कमल पूर्व दिशा में अपना मुँह कर लेता है और खिल जाता है। ज्यों-ज्यों सूर्य पश्चिम की ओर गति करता है त्यों-त्यों उसकी दिशा का अनुगमन करता है। सांझ होते ही सूर्य जब अस्ताचल की ओर चला जाता है तब कमल का मुँह भी पश्चिम दिशा में हो जाता है और

सूर्यास्त होते ही कमल भी बंद हो जाता है। किसने बतलाया कमल को यह सब ? किरणों में जो शक्ति और क्षमता भरी होती है, कमल उसे प्राप्त कर लेता है। विचार करें कि हमने सूर्य की किरणों से कितना लाभ उठाया है ? कोई तो सूर्य को पीठ दिखाता है, कोई जल अर्पण करता है, पर उससे शक्ति लेने की तत्परता कितनों की बनती है ? पात्रता हो तो शक्ति का लाभ मिल सकता है। पात्रता नहीं है तो चाहे कितनी ही शक्ति बरस रही हो हम उसका लाभ नहीं ले पाएँगे। नल बह रहा है पर पात्र नहीं है, तो नल किसे भर पायेगा ? हृदय-कमल गुणों की किरणों से विकसित हो सकता है, यदि अंतर का सच्चा अनुराग हो तो। अनुराग नहीं तो हृदय-कमल विकतिस नहीं हो पायेगा। प्रभु महावीर के पास गोशालक, संगम भी आये पर क्या वे किरणों का लाभ उठा पाये ?

प्रभु ने विचार किया मेरे पास से कोई खाली नहीं गया, लेकिन संगम खाली जा रहा है। हम सोचते हैं कि क्या कारण है कि आज धर्म की बात तो होती है पर असर नहीं होता ? असर हो सकता है यदि अपना पात्र खोतें। हम यदि घड़े पर कटोरी का ढ़क्कन लगा दें तो चाहे कितना ही पानी क्यों न बहे, कितने ही घंटे, दिन, वर्ष और युग क्यों बीत जायें, घड़ा नहीं भरेगा। पानी में घड़ा भरने की क्षमता है, पर घड़ा ही अपने ऊपर कटोरी ऊंधी मारकर बैठा रहे तो वह कैसे भरेगा। केवल किताबी ज्ञान से असंस्कार दूर नहीं होगे। त्रिखण्डाधिपति श्रीकृष्ण में कितनी विनय थी। आज तो व्यक्ति को नगर का चेयरमैन ही बना दिया जाये तो वह फूलकर बादशाहत में आ जायेगा। क्षुद्र मानसिकता से ग्रस्त व्यक्ति अपने आपको ही सर्वशक्तिशाली समझता है। कृष्ण अपनी प्रत्येक माता को प्रणाम करते थे। आज कितने भाई चरण वंदन करते हैं? कहेंगे- यह पुराणपंथी परम्परा हमें पसंद नहीं है। इन बुड्ढों को क्या आता है। जी हाँ, आप तो बहुत जानते हैं। यह है असंस्कृत जीवन का नमूना। असंस्कृत अवस्था को दूर करने की भावना कैसे जागेगी ? किताबी ज्ञान प्राप्त कर लिया पर असंस्कारों को दूर नहीं किया तो

आपने कुछ नहीं जाना । उस नाविक और शास्त्रज्ञ लोगों का उदाहरण आँखें खोलने वाला हो सकता है । उन विद्वानों ने नाविक से पूछा- तुमने साहित्य, दर्शन, अध्यात्म, ज्योतिष शास्त्र पढ़े हैं या नहीं ? उसने कहा- मैंने तो कुछ नहीं पढ़ा । उन्होंने कहा- अरे तुमने जीवन का आठ आना भाग खो दिया । नाव चलती रही । नाव बीच भंवर में पहुँची । तूफान की संभावना देखकर नाविक ने उन शास्त्रविदों से पूछा- तैरना जानते हैं या नहीं ? उन्होंने कहा- तैरना तो हमें नहीं आता । नाविक ने कहा- तैरना नहीं जानते हो तो समझो कि सम्पूर्ण जीवन बेकार हो गया । हमने भी यदि भवसागर में तैरना नहीं जाना तो इस संसारी अवस्था में भटकन होती रहेगी । तैरने की कला सीखें तो तिर पायेंगे । ये थपेड़े तो आयेगे, तरंगें कभी नीचे की ओर ले जायेंगी तो कभी ऊपर उठा लेंगी । झूब गये तो फिर किनारा कैसे मिलेगा ? इसलिए प्रभु कह रहे हैं- असंस्कृत जीवन से प्रमाद दूर करो । पता नहीं कहाँ गिरोगे, कहाँ जाओगे । प्रभु के हृदय में कितनी करुणा है, कितना स्नेह, कितना प्रेम, कितना अहोभाव है । इसीलिए वे सम्बोधित कर रहे हैं- तू भी मेरी आत्मा के समान है । प्रमाद को, असंस्कारों को दूर हटा । इनकी चादर को लपेटे रखा तो यह और काली होती जायेगी ।

नैतिक जीवन सुरक्षित नहीं तो फिर धार्मिकता कैसे सुरक्षित रहेगी ? सूर्य के आने पर भी हृदयकमल विकसित नहीं हुआ तो कैसे लाभ उठा पाओगे । हमने तो धर्म, श्रद्धा, भक्ति को पोशाक मान रखा है । जैसे चादर फटी तो उतार कर दूसरी धारण कर ली । इस तरह बदलते रहें तो समझ लीजिये कि हमारे भीतर न सच्ची श्रद्धा है, न सच्ची भक्ति है । धर्म वही है जो जीवन का संस्कार करे । हृदयकमल में किरणों का प्रवेश करायें अन्यथा विषवल्लरी जीवन को दुर्गन्ध से परिपूर्ण कर देगी । यदि उसे नहीं पनपने दिया तो जीवन का आमूलचूल परिवर्तन हो सकता है । अहं विनाश का मूल है । वह जीवन रस को सुखा डालता है । अहंकारी के पास कोई नहीं फटकता क्योंकि इसकी संगति वैसे ही अंकुर पैदा

करती है। धर्म, भक्ति इसके साथ नहीं रह सकते, यदि रह गये तो निष्क्रिय हो जायेंगे, कुम्हला जायेंगे, उनकी कल्याणवृत्ति नष्ट हो जायेगी। हम अपना अंतर टटोलें और देखें कि धर्म, भक्ति और श्रद्धा के पौधों के बीच कहीं अहं का विष वृक्ष तो अंकुरित नहीं हो गया है। जीवन को दुर्गन्धयुक्त बनाने वाले ऐसे तत्व न आयें तो ही अच्छा है, यदि असावधानी आ भी जायें तो प्रमाद न करें अन्यथा जीवन बरबाद हो जायेगा। प्रभु का हम पर बहुत उपकार है। उनकी कृपा से सूर्य की रश्मियों से हमारा हृदयकमल विकसित हो तो वह एक अनोखी प्रक्रिया होगी। पर यह तभी होगा जब वह विषवृक्ष न पनपे। अहं व प्रमाद के विषवृक्ष का अंकुरण सर्वनाशकारी सिद्ध होगा। अप्रमत्त रहें तो वह वृक्ष पैदा ही नहीं होगा और असंस्कारों की काली चादर हटाकर हम परमात्म पद प्राप्त कर सकेंगे। तब शीतल जनपति की ललित त्रिभंगी हमारा मन मोह सकेगी और हृदयकमल विकसित हो सकेगा। सत्य, प्रेम, करुणा जैसे शुभ भावों के पौधे अपने अंतर में अंकुरित कीजिये, जिससे इस भव में ही आपका उद्धार हो सके।

दि. 10.10.96



अनंत में प्रवेश का मार्ग

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी, विविध भंगी मन मोहे रे ।
करुणा, कोमलता, तीक्षणता, उदासीनता सोहे रे ॥

काल का प्रवाह निरन्तर गतिमान है। हम भी उसी की तरंगों में निमज्जित हो रहे हैं तथा उसी के प्रवाह में बहते चले जा रहे हैं। हम जानते हैं कि बाढ़ आयी, सरिता के प्रवाह में अनेक पेड़, पौधे, झौंपड़े आदि भी गति करते बह जाते हैं। उनका चलना तो होता है पर वह यथार्थ में गति नहीं होती। पानी के वेग के कारण उनकी क्रिया होती है, चलना होता है, पर वे सभी स्वयं बेसुध होते हैं। उन निर्जीव वस्तुओं को तो ज्ञान नहीं होता, पर उनके साथ ही वे अनेक मनुष्य व दूसरे प्राणी प्रवाह में बहते चले जाते। यदि कभी विचार लें कि हमने बहुत गति कर ली तो वह उनका अज्ञान होगा। क्योंकि वह यथार्थ में गति नहीं होती। गति तभी होती है जब कोई उद्देश्य या लक्ष्य निर्धारित कर विशिष्ट दिशा में बढ़ने का प्रयास किया जाता है। लक्ष्य नहीं तब तक वह गति, गति नहीं होती। अनादिकाल से यह आत्मा मिथ्यात्व में पड़ा इसी प्रकार गति कर रहा है। उसने संसार सागर में बहुत डुबकियाँ लगाई, बहुत चला, पर बिना अपनी मंजिल तय किये। मंजिल की बात पूछने पर वह निरुत्तर हो जाता है। मंजिल कौन-सी है? वह कहेगा अभी निर्धारित ही नहीं की है, कुछ सोचा भी नहीं कि मुझे कहाँ जाना है। है न अजीव बात?

एक व्यक्ति ने नई कार खरीदी और स्टार्ट कर चल पड़ा। कई किलोमीटर की दूरी भी तय कर ली, कितना ही तेल भी जला डाला।

जिधर कोई सड़क या मोड़ दिखाई दिया, गाड़ी उधर ही दौड़ा दी। कुछ व्यक्तियों ने देखा कि एक ही मार्ग पर यह चार, पाँच बार गाड़ी चला चुका है, क्या बात है ? या तो यह रास्ता भटक गया है या किसी अन्य टोह में है। दाल में कुछ काला लगता है ? किसी ने पूछा क्यों भाई, तुम्हें कहाँ जाना है ? जवाब मिला- पता नहीं। पता नहीं फिर भी गाड़ी चला रहा है। कभी-कभी ऐसी स्थिति बन जाती है। शौक होता है कि नई है जरा धूम लूं। बच्चों को नई साईकिल ले तो। उनका उद्देश्य होता है सिर्फ खेलना। यों ही राउण्ड पर राउण्ड लगाते रहे। यहीं बच्चों का खेल हमारी आत्मा अनादि से खेल रही है। इस खेल में कभी डुबकी लगा ली, कभी ऊपर आ गये, पर मंजिल के बारे में सोचा ही नहीं। इस भटकन को ही वह मंजिल अथवा उद्देश्य मान लेता है। अनायास सजी ऐसी महफिलों में वह मशगूल हो जाता है। यदि उससे पूछा जाये- इतने मशगूल क्यों हो तो वह कहता है मुझे कहाँ जाना है, क्या करना है, यहीं सब तो करना है और क्या करना है ? इसीलिए प्रभु ने कहा है- ‘असख्यं जीविय मा पमायए।’ तुम्हारा जीवन असंस्कारित है क्योंकि तुमने मंजिल को ही नहीं जाना, लक्ष्य ही स्थिर नहीं किया। हम भी सोचें कि हमारी साधना का क्या लक्ष्य है ? सामायिक, धार्मिक अनुष्ठान आदि करते हैं पर लक्ष्य के सम्बन्ध में अस्पष्ट होते हैं। कोई पूछता है तो सुनी बात के आधार पर कह देते हैं कि मोक्ष जाना है। कोई पूछे मोक्ष कहाँ है तो थोड़ी उलझन में पड़ जाते हैं। उसकी जानकारी ही नहीं है अतः हम स्पष्ट उत्तर नहीं दे पाते हैं। जबकि हमारा लक्ष्य है ‘अनंत में प्रवेश’। आप कहेंगे यह कौन-सी बात है ? अब तक हम सीमित दायरे में रहे। विचार, गति, क्रिया सब सीमित दायरे में ही सम्पन्न करते रहे तब असीम को कैसे समझें। निश्चित रूप से आप समीप रहे। आप दर्शन के लिए पहुँचते हैं तब बीकानेर या भीनासर सा अन्य कोई स्थान सीमा बन जाता है फिर वापस मुड़ जाते हैं। यह है सीमा में प्रवृत्ति। जब तक सीमित प्रवृत्ति में रहेंगे, अनादि प्रवाह से मुक्त नहीं हो पायेंगे। अनादि प्रवाह से मुक्त होना

है तो लक्ष्य बनाना होगा, मंजिल निर्धारित करनी होगी और वह मंजिल है 'अनंत में प्रवेश'। क्या है अनंत में प्रवेश इसे समझें।

एक बालक जन्म लेता है, उसे कुछ ज्ञात नहीं होता कि क्या करना है। थोड़ा बड़ा हुआ साथियों के साथ खेल खेलना, भूख लगे तो दूध पीना, फिर खेलना यहीं तक उसकी क्रियाएँ सीमित हो जाती हैं। आगे बढ़ा, विद्यालय में प्रवेश हुआ तो कुछ परिवर्तन हो आया। नये परिवेश में प्रारंभ में तो व्यवस्थित नहीं हुआ पर मानस पर ये भाव अंकित हो गये कि विद्यालय जाना है। अब उसका लक्ष्य बन गया कि मुझे प्रतिदिन विद्यालय पहुँचना है। समय होते ही टैम्पो आ जाता है, वह भी तैयार खड़ा रहता क्योंकि विद्यालय पहुँचने का उद्देश्य निर्धारित हो गया था। वहाँ से निकला, कॉलेज का लक्ष्य बना। इस प्रकार टुकड़ों-टुकड़ों में उसका लक्ष्य बनता-बदलता है। यदि उससे पूछा कि अध्ययन क्यों कर रहे हो तो जवाब मिलेगा परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए। अब डिग्री प्राप्त करना ही उसका लक्ष्य है। उसके बाद अध्ययन से कोई सरोकर नहीं रह जाता। बहुत कम व्यक्ति जीवन-निर्माण के लिए उस अध्ययन को व्यवहार में ला पाते हैं। कौरव-पांडवों का अध्ययन चल रहा था। नीति का एक पद था 'कोपम् मा कुरु' अर्थात् क्रोध मत करो। द्रौणाचार्य ने सबको अध्ययन कराते हुए पूछा, सभी ने धड़ाधड़ पाठ उच्चारित कर दिया। धर्मराज ने कहा- मुझे अभी पाठ याद नहीं हुआ है। यह नहीं कहा कि कंठस्थ नहीं हुआ है। यह दर्शाया कि अभी गहरे में नहीं पैठा है। कंठ तो ऊपर होता है, याद गहरे में होती है, धारणा तक पहुँचाने वाली होती है। कंठाग्र की स्थिति गहरे में हो भी, न भी हो। दो, तीन, दिन निकल गये और उन्होंने यही कहा- याद नहीं हुआ है। द्रौणाचार्य ने चांटा जड़ दिया- तुम सबसे बड़े राजकुमार हो, न जाने कितनी भावनाएँ संजोयी हुई हैं। राजा बनोगे और इतना-सा पाठ याद नहीं हुआ ? युधिष्ठिर ने कहा- हाँ थोड़ा-सा याद हुआ है, कुछ कच्चा कुछ पक्का। फिर रहस्य प्रकट किया। बताया कि केवल कंठाग्र की बात नहीं है, आपने चांटा लगाया

तो थोड़ा आवेश आया लेकिन शीघ्र शांत हो गया। तो मुझे लगा अभी पूरा याद नहीं हुआ है। ‘कोपम् मा कुरु’ थोड़ा क्रोध आ गया। द्रौणाचार्य ने विचार किया- विद्यार्थी तो इतने हैं पर इस प्रकार का अध्ययन करने वाला यह एक ही है। इस प्रकार जीवन निर्माण का लक्ष्य रखकर चलने वाले बहुत कम होते हैं। हमारी भी गति, प्रवृत्ति हो रही है। धर्म क्षेत्र में भी आते हैं पर अनंत में प्रवेश के लिए तैयारी कैसी है यह पता नहीं।

यहाँ दो बातें समझ लेने की हैं। अनंत में प्रवेश करना है तो सीमा को लांघना होगा। यदि सीमा लांघन की तैयारी नहीं है तो अनंत में प्रवेश संभव नहीं होगा। कहा जाता है कि बुद्ध को जब बोधि वृक्ष के नीचे बोध प्राप्त हो गया तब वे कहने लगे- ‘हे तृष्ण ! अब तुम्हें मेरे लिए घर बनाने की आवश्यकता नहीं, किसी प्रवेश की आवश्यकता नहीं।’ सत्य तो यह है कि हमारी तृष्णा ही नये-नये आकार बनाती है। बाहर कुछ करें या नहीं पर कल्पनाओं में नये-नये नक्शे निर्मित जरूर करती है। यह ध्यान रहे कि तृष्णा और लोभ में अंतर है। तृष्णा से लोभ का जागरण होता है। तृष्णा भीतर की चाह है, पास में चाहे कुछ न हो पर तृष्णा की लम्बी दौड़ चलती रहती है। जो प्राप्त है उसके प्रति लोभ का जागरण होता है। अप्राप्त के प्रति कल्पनाओं का गृह निर्माण तृष्णा के कारण होता है। बुद्ध ने कहा- हे तृष्ण ! तुम्हें अब मेरे लिए घर बनाने की आवश्यकता नहीं है। मैं तुम्हारे इन नये-नये नक्शों में बहुत उलझा हूँ, फंसता चला गया हूँ। हम जानते हैं कि यदि रेशम की डोर में गांठ पड़ जाये तो उसे सुलझाना कठिन होता है। इधर खोलो तो उधर पड़ जायेगी। यही हालत बना देती है तृष्णा। वह व्यक्ति को असीम नहीं बनने देती, अनंत में प्रवेश नहीं करने देती, सीमा में बांधती है। घर के, परिवार के, समाज के नये-नये आकार बनाती है। आकार तो सीमित होते हैं, पर उनमें तब तक ही कुछ जुड़ सकता है जब तक व्यक्ति अधूरा है। क्योंकि उसमें जोड़ने की चाह है। बुद्ध ने कहा था- तृष्ण ! मैं अनंत में प्रवेश कर रहा हूँ,

कदम बढ़ गए हैं, मुझे सीमा की जखरत नहीं है। शीतलनाथ भगवान की करुणा भी सीमित नहीं है। वह अनंत में प्रवेश कर गई है।

यदि हम यह मान लेते हैं कि हमारा लक्ष्य ससीम को छोड़कर अनंत में प्रवेश करना है तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि हम परिवार लेकर चल रहे हैं, उसका भी उत्तरदायित्व हम पर है। उन जवाबदारियों को कैसे छोड़ दें। इस संबंध में दो बातें हैं- छोड़ा भी जा सकता है, नहीं भी छोड़ा जा सकता। क्योंकि जवाबदारी दो प्रकार की होती है। पहली यह कि आपके आश्रित प्राणी आपके आश्रय में हैं, आपके अधीन हैं अर्थात् उन्हें आपकी जखरत है। दूसरी यह कि परिवार वालों ने तो नहीं पर हमने यह मान रखा है कि उन्हें हमारी आवश्यकता है। दोनों में अंतर है। आप दूसरा मत मानकर चलते हैं, पर यह मानना असंगत है। जब वे आश्रित नहीं तो आप उस कर्तव्य से ऊपर उठकर अनंत में प्रवेश के लक्ष्य की ओर बढ़ सकते हैं अथवा वृद्ध, रुग्ण आदि की सेवा के लिए आपकी उपस्थिति अनिवार्य है। दूसरा सार संभाल करने वाला नहीं है तो ऐसी स्थिति में तीर्थकरों का स्पष्ट कथन है कि यदि एक ओर संवत्सरी पौष्ठ का प्रसंग है और दूसरी ओर आश्रित को समय पर दवा, भोजन आदि देने का, तो वहाँ पौष्ठ भी गौण हो सकता है। प्राथमिकता आश्रित की सार-संभाल की है। कोई सोच ले कि वे मरे चाहे जियें मुझे तो पौष्ठ करना है तो समझ लीजिये कि उसके भीतर दया नहीं, करुणा नहीं और यदि ये ही नहीं तो पौष्ठ की आराधना कैसे करेंगे ? अहिंसा की पौध को सींचने के लिए पौष्ठ है। पर जब आप पौधे को ही उखाड़ देंगे तो चाहे कितना ही पानी डालो वह व्यर्थ है। पर जहाँ आप दायित्व का बोध लेकर चलते हैं वहाँ स्थिति बदल जाती है। जैसे खंभा है, उसके पास आपने जूते खोल रखे हैं। जाते हुए जूते पहने और खंभा पकड़ लें। फिर कहें खंभा मुझे छोड़ नहीं रहा है, जबकि आप स्वयं खंभा छोड़ नहीं रहे हैं। आज लोगों की पकड़ ऐसी है, स्वयं छोड़ना नहीं चाहते। ऐसी स्थिति में आप एक खंभे तक ही स्थित रह जाएंगे और अनंत में प्रवेश नहीं

होगा। भगवती सूत्र में श्रावक के लिए भी कहा है कि उसे लक्ष्य तक पहुँचना है, पर वह बीच में पड़ाव भी कर सकता है। उसके लिए वह आकांक्षा स्वर्ग की, पुण्य की भी करता है। इस संबंध में पूज्य गुरुदेव (आचार्य श्री नानेश) द्वारा अक्सर दिया जाने वाला दृष्टांत हमारा मार्गदर्शन कर सकता है। वे फरमाते थे- जैसे एक व्यक्ति विदेश या कहीं अन्यत्रा जाने की तैयारी से घर से रवाना हुआ। रेल्वे स्टेशन दूर है, पैदल नहीं जा सकता तो वह टैम्पो की या अन्य किसी साधन की आकांक्षा करता है। बीच में उसे ट्रेन की बदली भी करनी पड़ती है। मान लीजिये वह दिल्ली पहुँचा, उसे मालूम हुआ कि अगली गाड़ी 8 घंटे बाद मिलेगी तो वह प्लेटफार्म पर ही पड़ा नहीं रहता। परिवार की सुरक्षा की दृष्टि से विश्रामगृह की आकांक्षा करता है। विश्रामगृह में 8 घंटे का समय बिताकर पुनः यात्रा करके वह गंतव्य को प्राप्त करता है। इसी प्रकार अनंत में प्रवेश मूल उद्देश्य तो हो पर दूरी अधिक हो तो पड़ाव के रूप में। वह स्वर्ग और पुण्य का भी कांक्षी होता है। उसकी वह आकांक्षा उस मंजिल को, लक्ष्य की प्राप्ति के लिए है न कि मूल लक्ष्य को भूलाने के लिए होंगे। प्रवेश से पूर्व तृष्णा को शांत करना होगा। तृष्णा तो श्रृंखला पैदा करती है। आप तो सभ्य समाज के हैं, पर जो आदिवासी समाज के लोग हैं वे भी उस तृष्णा की पूर्ति के लिए मनौतियाँ मानते हैं। यदि मेरा अमुक कार्य हो गया तो मैं अमुक प्राणी की बलि चढ़ाऊँगा। अनंत में प्रवेश के लिए आपको भी बलि चढ़ानी होगी, बलिदान करना होगा। वहाँ बलि चढ़ानी होगी ‘माता की और संतान की’ तब अनंत में प्रवेश होगा। इस रूपकात्मक कथन को समझना होगा। ऐसी नहीं कि महाराज ने बलि चढ़ाने की बात कही है तो घर जाकर माता का गला मरोड़ दिया कि महाराज कोई गलत थोड़ा कहेंगे। आज ऐसी ही बातें पकड़ ली जाती हैं। कभी कहते हैं कि देवी के सामने बलि देने से बकरा स्वर्ग में जाता है। यदि ऐसा ही है तो पहले स्वयं को ही स्वर्ग क्यों नहीं ले जाते ? पर मूक प्राणियों की कौन सुने ? वह तो कहता है मुझे स्वर्ग नहीं चाहिये। तब समझना होगा कि बलि कैसे दी जाये। माता की बलि ? माता का स्वरूप

क्या है ? माता एक पद है और हमारी जन्मस्थली है। जो जन्मस्थली है वह भूतकाल। संतान बाद में होती है। माता भूतकाल है और संतान भविष्य है। भूत और भविष्य का बलि देने के बाद अनंत में प्रवेश होगा। भूत का कितना चिंतन करते हैं और भविष्य के बारे में क्या दृष्टि रखते हैं यह बहुत महत्वपूर्ण है। अनंत में प्रवेश के लिए भविष्य का भी बलिदान करना होगा। क्योंकि वर्तमान ही भविष्य को पैदा करता है। भविष्य की बलि दे दी तो फिर कोई बचा नहीं। पंजाब में कहा जाता है- संत श्री अकाल, जो बोले सो निहाल।'

सत्य क्या है। जो काल से व्यतीत हो गया, जो काल की सीमा में आबद्ध नहीं है। जो अकाल में अर्थात् काल रहित अवस्था में चला गया वह निहाल हो गया, असीम को उपलब्ध हो गया। पर है कहाँ तैयारी ? हम हर बात में सीमा बनाकर रखते हैं परन्तु जब तक सीमा की सुरक्षा होती रहेगी अनंत में प्रवेश नहीं होगा। काल की बलि देकर ही अनंत में प्रविष्ट हो सकेंगे। यदि चाहत है तो सारी तृष्णा, भूतकाल जनित भावनाओं और भविष्य की आकांक्षाओं को तिरोहित करना होगा। फिर अनादि के प्रवाह में नहीं बहेंगे और तब उस अनंत में चरण विन्यास होगा जहाँ अन्त नहीं है। सिद्धों का सादि अनंत भंग है, जिसका प्रारंभ तो है अन्त नहीं है।

एक भंग है अनादि अनंत का, उसमें मजे की बात नहीं। एक भंग का स्वयं निर्माण करो, अनादिकाल से गोते लगा रहे हो। विविध भंगी के अनादि अनंत में ही रहे, तो कोई बलिहारी नहीं। पर एक अन्य प्रकार का मोर्चा है जिस पर विजय प्राप्त करनी है। बड़े-बड़े योद्धा भी उस मोर्चे पर टिक नहीं पाते। यदि वहाँ बाजी मार ली, आदि कर ली तो फिर अनंत में प्रवेश हो सकेगा। सिद्धों की आदि है। प्रभु महावीर का निर्वाण हुआ कार्तिक बढ़ी अमावस्या की रात्रि को है। जब वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, निरंजन, निराकार बनें। वह आदि का समय था, आदि सहित थे पर अब कितने काल तक उस स्वरूप में बने रहेंगे ? अब वे अनंत में प्रवेश पा-

चुके हैं। हम भी अनंत में चरण विन्यास करना चाहते हैं तो भूत और भविष्य की समस्त महत्वाकांक्षाओं को तिलांजलि दी होगी। फिर काल की सीमा से अतीत हो जायेंगे, यही हमारी साधना का, आराधना का उद्देश्य है। यही लक्ष्य है। जिस दिन उस दिशा में प्रस्थित होंगे उस दिन से जीवन की छाप हटती चली जायेगी और फिर हम संस्कारित, परिमार्जित हो गंतव्य को प्राप्त करेंगे। प्रमाद हट जायेगा, अनंत बन जायेंगे। वहाँ काल का प्रभाव नहीं रहेगा। शाश्वत, नित्य, अवस्थित पर्याय होगी। साहसपूर्वक तृष्णा का त्याग कर निर्धारित पथ पर गति हो तो निश्चित रूप से एक दिन हम अनंत में चरण विन्यास कर पाएंगे।

दि. 11.10.96



अविचल आस्था : सिद्धि का मार्ग

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी, विविध भंगी मन मोहे रे ।
करुणा, कोमलता, तीक्षणता, उदासीनता सोहे रे ॥

जन्म और मरण जीवन के दो शाश्वत सत्य हैं। इन दोनों के मध्य की अवस्था को जीवन की संज्ञा दी जाती है। प्रत्येक प्राणी इन दोनों अवस्थाओं से गुजरता है क्योंकि जीवन की राह यही है। इसलिये इसमें राजा-रंक, संत-पापी, कीट-पतंग, पशु-पक्षी किसी का भेद नहीं होता। तीर्थकर भी इसी राह से गुजरे थे। यह बात अलग है कि रूप, आकृति, आवास, अवस्था, लिंग, प्रकृति आदि की भिन्नता हो। कुछ भिन्नताएँ इस रूप में भी हो सकती हैं कि कोई किसी गाँव में हो, कोई किसी शहर में हो, कोई पुरुष देह को या स्त्री देह को धारण किये हो, या कोई पशु योनि में चला गया हो, पर वहाँ भी मार्ग यही है- जन्म, जीवन, मृत्यु। इस मार्ग से गुजरते हुए व्यक्ति जानता है कि इस मार्ग पर कुछ दुःख भी आते हैं। जन्म का दुःख है, बुढ़ापे का दुःख, रोग का दुःख है, मृत्यु का दुःख भी है। इन चारों दुःखों से संत्रस्त है। शास्त्रकार कहते हैं-

जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगाणि मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ की सन्ति जंतुणो ॥

-उत्तराध्ययन सूत्र 19/16

वह इन सारे दुःखों को जानता भी है, उनके कारणों पर विचार भी करता है और सोचता है कि ऐसा पुरुषार्थ या पहल करुं कि दुःख आवे ही नहीं। परन्तु इस सबके बावजूद भी वह दुःख में प्रवेश कर जाता है।

एक व्यक्ति आग के पास बैठा आग ताप रहा है। थोड़ी-सी अवसाधानी हुई, हाथ या किसी अंग का आग से स्पर्श हुआ, उसमें दाह हुआ और उसने निष्कर्ष निकाल लिया कि आग जलाती है अतः आग के निकट नहीं बैठना चाहिये। पर कभी-कभी चेतना इतनी बोझिल होती है कि व्यक्ति भूल जाता है कि उसने क्या अनुभव किया था और क्या निर्णय लिया था। एक विचार बना कि प्रयोग करके देखूँ कि आग जलाती है या नहीं। पुनः आग के निकट जाकर स्पर्श किया और फिर जला। तब व्यक्ति अपने अनुभव के कारण संभल जाता है कि मुझे आगे के निकट नहीं जाना है क्योंकि मैंने एक बार नहीं अनेक बार देख लिया है कि आग जलाती है।

एक व्यक्ति के मुँह में छाले हो गये। भोजन करने बैठा- साग में मिर्च अधिक थी, पर साग स्वादिष्ट था। उसने एक ग्रास मुँह में लिया, छालों के कारण जलन होने लगी। एक मन ने कहा मुझे यह नहीं खाना है, जलन होती है, पर दूसरे ही क्षण भीतर से पुकार आई अरे एक क्षण की जलन होगी पर व्यंजन कितना स्वादिष्ट है ! हाथ बढ़ा और फिर निवाला लेकर चबाने लगा। मिर्च तीखी थी पर हाथ फिर बढ़ गया साग की ओर। एक शराबी शराब के नशे में बेभान इधर-उधर गिरने लगा। नशा उतरा, सहज होने पर विचार आया अब आज के बाद मुझे शराब नहीं पीनी है पर ज्योंही ठेकेदार की दुकान सामने आई, उसे ध्यान ही नहीं रहा कि वह क्या कर रहा था। रोज के सधे कदम दुकान के अंदर बढ़ गये। वह कुछ सोच पाता कि प्याली सामने आ गई। एक मन ने कहा नहीं पीऊं पर दूसरे मन ने कहा- होगा देखा जायेगा और प्याली मुँह से लगा ली। सोचिये- उसकी क्या दशा होगी ? कहीं हारमोनियम और ताल बज रहे थे। एक नृत्य करने वाला वहाँ बैठा था, धुन सुनी, बैठ नहीं पाया, उठ खड़ा हुआ और अनायास ही पैर थिरकने लगे। यही दशा है व्यक्ति की। जानता है शराब पीना ठीक नहीं है, उसकी हानियों पर विचार भी करता है, पर ज्योंहीं समय होता है उन्माद-सा छा जाता है और बेभान होकर वह ठेके पर पहुँच जाता है।

ऐसे ही प्राणियों की स्थिति है। तीर्थकर देवों का हृदय पात्र तो करुणा से ओत-प्रोत है। उन्होंने सभी आत्माओं को आत्मवत् मान रखा है, पर मनुष्य है कि उनकी करुणा का लाभ नहीं उठा पाता है। प्रभु ने स्पष्ट कहा है-

असंख्यं जीविय मा पमायए

हे आत्मन् ! तू प्रमाद क्यों कर रहा है। तेरा असंस्कारित जीवन मिट्टी के घड़े की भाँति है, चिर स्थाई नहीं है। जिस दिन फूटेगा साधना कठिन हो जायेगा। जीवन की डोर टूट गई तो सधेगी नहीं। चाहे जितनी गाँठें लगाने का उपक्रम करो, गाँठ लगेगी नहीं और जीवन जुँड़ नहीं पायेगा। इसलिए प्रमाद मत करो। उस शराबी पर तो हमें हँसी आयेगी कि कितना पागल है, मन का गुलाम है, शराब छोड़ नहीं पा रहा है, पर आपने तो शराब नहीं पी है। फिर जिसे आप हेय मान रहे हैं, जिससे दुःख पैदा होता है उसी से फिर लगन क्यों लगाते हैं ? विचार कीजिये दुःख किसमें है ? संसार में दुःख है या सुख ? छोड़ने का मन होता है। एक क्षण विचार आता है परन्तु किसी प्रसंग पर विचारों में पुनः बदलाव आ जाता है जैसे ताल बजने पर नर्तक थिरकने लगता है वैसे ही व्यक्ति सांसारिकता के ताल पर जीवन का नृत्य करने लगता है। मैं कह गया हूँ कि राह वही है जिस पर तीर्थकर भी चलते हैं, हम भी चल रहे हैं, यद्यपि सबके अनुभव भिन्न-भिन्न होते हैं। घटनाएँ घटती हैं पर प्रतिक्रिया अलग-अलग होती है।

करकण्डू ने सांड देखा विचार किया एक दिन यह शक्ति सम्पन्न था परअआज अपने ऊपर की मविख्याँ भी उड़ा नहीं पा रहा है। उसे अनुभूति हुई कि मेरी भी यही दशा होगी। आज मुझमें शक्ति है, जवानी है, पर जब बुढ़ापा आ जायेगा; क्योंकि यह शरीर मरणधर्मा है, तब मेरी भी ऐसी ही दयनीय दशा होगी। आज जो जवान है वे शायद यह नहीं सोचेंगे कि हम भी कभी बूढ़े होंगे। माता-पिता के साथ कैसा व्यवहार करते हैं यह तब समझ में आता है जब स्वयं बूढ़े हो जाते हैं और उनका पुत्र भी वैसा ही बर्ताव उनके साथ करता है। तब महसूस होता है कि पिताश्री को मेरे कारण कितनी पीड़ा हुई होगी, तब मन रोएगा। जीते जी

पारिवारिक सदस्यों को सुख नहीं दिया, अरमान पूरे नहीं किये, अब पश्चात्ताप करने से क्या लाभ ? भारतीय संस्कृति का ऐसे व्यक्ति निश्चित ही उपहास करते हैं जिन्होंने माता-पिता की इच्छाओं की कभी पूर्ति नहीं की। उनकी बुद्धियों में खाने की भावना रही होगी, वह तो पूरी नहीं की होगी पर उनके मरने के बाद श्राद्ध जरूर करते हैं, तर्पण करते हैं। क्यों करते हो यह पाखण्ड उनके मरने के बाद ? शायद पश्चात्ताप के कारण एक भावना उठती होगी कि मैंने तब उनकी मनोकामना पूर्ण नहीं की, अब पूरी कर दूँ। पर क्या वह तर्पण उनके पास पहुँच जायेगा ? एक ब्राह्मण ने एक पुरुष से कहा- यदि तुमने श्राद्ध नहीं किया तो पिता को सद्गति नहीं मिलेगी। उसने कहा- ठीक है, मैं विचार करूँगा। एक दिन वह पहुँचा गंगा के किनारे और नालियाँ बनाने लगा। फिर उनमें गंगा का जल लोटे में भरकर उलीचने लगा। संयोग से ब्राह्मण देवता भी आ गये। उसे यह सब करते देख पूछा- क्या कर रहे हो ? उत्तर मिला- मैं अपने खेत तक पानी पहुँचा रहा हूँ। प्रश्न हुआ- कहाँ है तुम्हारा खेत ? उत्तर मिला- यहाँ से 5 कि.मी. की दूरी पर। प्रश्न हुआ- पर तुम यहाँ पानी फेंक रहे हो, यह तो पुनः गंगा में ही चला जावेगा, खेत तक कैसे पहुँचेगा ? उस व्यक्ति ने उत्तर दिया- ब्राह्मणदेव ! मैं पानी लेकर संकल्प करके अपने खेत की दिशा में फेंक रहा हूँ तो क्या वह यह खेतों में नहीं पहुँचेगा ? ब्राह्मण ने कहा- नहीं। इस पर उस व्यक्ति ने पूछा- तो फिर अब यहाँ मैं माता-पिता के नाम से कुछ श्राद्ध कार्य करूँ तो वह उन तक कैसे पहुँचेगा ? 5 कि.मी. की दूरी तक यदि पानी नहीं पहुँच सकता तो वह अन्न, कंबल परलोक तक कैसे पहुँचेंगे ? यहीं तो है असंस्कारित अवस्था। हमें ज्ञान नहीं है और हम एक ढर्रे पर चले जा रहे हैं। सम्यग् क्षणों का अनुभव नहीं कर पाते हैं, इसलिये दुःख आते हैं, वेदन भी होता है। पर व्यक्ति समझने को कितना तैयार है ?

सामान्य रूप से दुःख का वेदन दो रूपों में होता है- 1. जागृत अवस्था में 2. सुप्त अवस्था में। जब तक सुप्त अवस्था रहती है वेदन पुनः-पुनः दुःख को बुलावा देता है। जागृत अवस्था में जो वेदन होता है उसमें पुनः पुनः वेदन नहीं होता। स्कूल में विद्यार्थी पहुँचा, गुरु ने पाठ

दिया, पर वह पाठ याद करके नहीं गया। एक-दो दिन निकले गये फिर भी याद नहीं किया। आखिर फैल हो गया और पुनः वहीं अध्ययन करने लगा। वैसे ही सुषुप्ति दशा के कारण दुःख परम्परा बनी रहेगी, दुःख जुड़ता रहेगा।

गुरुनानक के जीवन का प्रसंग है। वे अपनी मस्ती में जीवनयात्रा साधते चले जा रहे थे। एक दिन एक डाकू उनके चरणों में पहुँचा, गुरुनानक का उपदेश सुना। चरणों में माथा टेक कहने लगा- गुरुदेव ! मुझे बचाईये ! गुरुनानक ने पूछा- भाई, तुम बचाने का कह रहे हो, पर यह घबराहट क्यों है ? बचाव क्यों चाहते हो ? डाकू ने कहा- गुरुदेव ! मैंने जीवन में बहुत से गलत काम किए हैं। आपसे आज सुना- पाप कर्म बंध होता है और पुनः उनका वेदन होता है, उस स्थिति का डर लग रहा है। उससे मुझे बचा लीजिए। नानक ने कहा- ठीक है। यदि बचना चाहते हो तो गलत काम छोड़ दो। उसने कहा- मैं प्रण करता हूँ कि गलत काम कभी नहीं करूँगा। इसके उपरांत- एक दिन तो वह प्रण पर डटा रहा पर रोज का अभ्यास फिर प्रेरित करने लगा। बैठे-बैठे क्या करूँगा ? पुनः डाका डालने चला, दिन बीतते रहे। पुनः एक दिन गुरुनानक के समीप पहुँचा, निवेदन किया- मुझे बचा लीजिए। मैंने प्रतिज्ञा तो ली थी पर मैं पुनः गलत कामों में पड़ गया। बचाईये, कोई उपाय बताईये। आप सब जानते हैं कि आदत छूटती नहीं। एकाध दिन तो ध्यान रहता है फिर पैरों में थिरकन होने लगती है। मानो पैरों में पहिए हैं जो अपने आप चलने लग जाते हैं। गुरुनानक ने कहा- बचने का उपाय है। फिर वे थोड़ी देर मौन रहे देखा कि सामने वाला भाई उतावला हो रहा था। बोले- देखो भाई उपाय तो है। ऐसा करो- जो तुम्हारे मन में आता है वह सब कर डालो। यदि मन में आता है डाका डालूँ, हत्या करूँ, जुँआ खेलूँ, शराब पीजँ, तो जो चाहते हो वो कर लो क्योंकि मन तो तुम्हारा मानता ही नहीं। इसलिए मैं रोक भी नहीं सकता। एक बात का ध्यान रखना जो कुछ भी तुम्हारे मन में आये उसे दुनियां के सामने प्रचारित कर देना, कुछ भी छिपाना मत। वह बहुत खुश हुआ। अब तो आनंद आयेगा। गुरु ने भी मन की चाह पूरी करने का आदेश दे दिया है। घर पहुँचा। दूसरे

दिन डाका डालने का विचार बना। गुरु ने कहा है- लोगों के बीच प्रकट कर देना। कैसे कहूँ, मन में तो कितने ही भाव बने रहते हैं पर दुनिया के सामने सबकुछ रख पाना कठिन है, बहुत कठिन है।

साधकों के लिए प्रभु का निर्देश है कि मन में जो भी भाव आते हों अथवा कभी मन साधना से विचलित होता हो या मन को अशांत करने वाले भाव उत्पन्न हो रहे हों तो आश्रय ले लो- गुरु का या विशिष्ट ज्ञान, गुण सम्पन्न किसी सुदृढ़ का और उसके सामने दिल की सारी बातें खोलकर रख दो। इलाज हो जायेगा। हम जानते हैं कि यदि डॉक्टर के पास जाकर दो बातें बता दी और छिपा ली तो सही निदान नहीं हो पायेगा। यदि खुलकर सभी बातें कह दें तो निदान हो सकता है।

मन की बात खुलकर कह देने के संकोच से ग्रस्त डाकू पुनः गुरुनानक के चरणों में पहुँचा- आपने उपाय तो बताया पर मेरे वश की बात नहीं है। बहुत कड़वी औषध है। मैंने उस पर गंभीरता से विचार किया है। मेरे सामने दो धर्म हैं एक गलत और कठिन, दूसरा सही और समान। मैंने निर्णय लिया है कि जो सही है, समान है उसे अपना लिया जाये और गलत काम छोड़ दिये जाये। मैंने संकल्प कर लिया कि अब डाका नहीं डालूंगा, जीवन को संस्कारित करूँगा।

इस प्रकार आपका यह प्रयास रहे कि जो भी विचार बनते हैं गुरु के सामने प्रकट कर दें। परन्तु यदि गुरु का सानिध्य न मिले तो भी प्रतिदिन के विचार डायरी में नोट कर लें और इसमें पूरी ईमानदारी रखें। कोई बात छिपायें नहीं, जो भी विचार आयें उन्हें नग्न सत्य के रूप में अंकित कर ले। तदुपरान्त ठीक एक महीने बात एक-एक पन्ने को पढ़ने की कोशिश करें। उसके बाद आपके विचारों में जो रूपान्तरण होगा, जो अद्भुत अनुभूति आपको होगी उस पर आप स्वयं आश्चर्यचकित रह जायेंगे- क्या एक माह पूर्व मेरे ऐसे विचार बने थे। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि हम बातें बहुत जल्दी भूल जाते हैं। हमें याद नहीं रहता है। महीने पूर्व के तो छोड़ दीजिये, व्याख्यान में आने से पूर्व आपके क्या विचार बने थे यह भी याद नहीं रख पाते। यदि से विचार लिपिबद्ध कर लिये जायें तो फिर डायरी में लिखा हुआ जब आप उठा कर पढ़ेंगे,

आपका तुरन्त मार्गदर्शन हो जायेगा। तब आपकी आत्मा ही आपके लिए गुरु का काम करेगी। वह आत्मा ही देव है, धर्म है, पर क्ब ? जब आत्मा जग जाये। प्रभु महावीर और प्रभु शीतलनाथ की भाँति हमारी आत्मा भी जग जाये तो वही आत्मा हमारे लिए देव, गुरु, धर्म का रूप बन जाये। इसीलिए प्रभु ने कहा है- प्रमाद मत करो। प्रमाद को छोड़ोगे तो असंस्कारों को भी दूर करते चले जाओगे। जागरण के प्रति एकनिष्ठ समर्पण बन गया तो अपने भीतर, शक्ति का अजस्त्र प्रवाह प्रवाहित जागरण होगा, फिर सामने टिक नहीं पायेगा। अविचल विश्वास पैदा हो गया तो चमत्कार तो अपने आप घटित हो जायेगा।

अनेक ऐसी घटनाएँ घटती रहती हैं जिन्हें चमत्कार कहा जा सकता है। ऐसी ही पूर्व की एक सत्य घटना है। आचार्य भगवन् का चातुर्मास नोखा में चल रहा था। एक परिवार में, जो धर्मस्थान के निकट ही रहा था; एक मांजी भी थी, जो लगभग 80/85 वर्ष की थी। वे खाट से उठ नहीं पाती थीं। उठाने के लिए उन्हें सहारा देना पड़ता था, आँखों से उन्हें कम दिखाई देता था। संवत्सरी के पश्चात् आचार्यदेव कुछ घरों में दर्शन देने पधारे। एक भाई ने आकर निवेदन किया कि आप मेरी दादीजी को भी दर्शन देने की कृपा करें। गुरुदेव पधारे, दर्शन दिये।

गुरुदेव ने माँजी को जब तक आप स्वयं उठकर काम करने की स्थिति में नहीं आ जाए तब तक अठारह ही पाप एवं पुत्रवधु जो दे दें उसके अलावा अन्य पदार्थों के खाने के त्याग करवा दिये। गुरुदेव मंगलपाठ सुनाकर स्थानक पधार गए। थोड़ी देर में ही उधर उन माँजी ने कहा कि वह लोटा बीच में क्यों रख दिया है। घर वाले सोचने लगे इन्हें तो दिखाई नहीं देता है। शायद स्मृति-भ्रंश से कह रही होंगी। थोड़ी देर बाद माँजी और भी चीजों की ओर इशारा करने लगीं। पूछा, क्या आपको दिखाई देता है और उन्हें अंगुलियाँ दिखाई, उन्होंने बता दी। कोई कहे- कैसे ऐसा हो सकता है ? पर में प्रत्यक्षदर्शी है। दूसरे दिन मैं स्वयं धोवन लेने उनके घर गया तो वह उठने लगीं। मैंने कहा- इन्हें क्यों तकलीफ देते हो, तो उनकी पुत्रवधु के साथ हाथ लगाकर पानी बहराया। मुझे भी आश्चर्य हुआ। मैंने भी अंगुलिया दिखाई वे कहने लगीं- ‘आप

भी कई टाबरा दाईं करो।' उन्होंने अंगुलियां गिनकर बता दीं। इस घटना की जानकारी होते ही बीकानेर, गंगाशहर, भीनासर, देशनोक आदि क्षेत्रों से अनेक व्यक्ति माँजी के दर्शन को आने लगे। बीकानेर से डॉ. सक्सेना, डॉ. सुराना, डॉ. पुनिया भी उपस्थित हुए और सत्य स्वीकार किया। यह कोई अनहोनी या आश्चर्यजनक घटना नहीं थी। जब निष्ठा गहरा जाती है तब सबकुछ संभव हो जाता है।

जलगाँव प्रवेश के समय की एक घटना है। ईश्वरचंद्रजी ने निवेदन किया- गुरुदेव ! आप फैक्ट्री में विराजें। रात्रि को उनके पिताजी कहने लगे- 'गुरुदेव ! मैं प्रवेश में उपस्थित नहीं रह सकूंगा। पूना से समाचार आये हैं- अचलादेवी (उनकी पुत्री) को हाईअटैक के कारण हॉस्पीटल में भर्ती कराया गया है। सहज ही गुरुदेव के मुख से निकल गया कि अचलादाईजी को अटैक तो नहीं होना चाहिए। उन्होंने गुरुदेव के उद्गार श्रद्धा से स्वीकार किये और चमत्कार हो गया। कुछ समय पश्चात् उन्हें पुनः समाचार मिले कि हाईअटैक तो नहीं हैं। कुछ गैस ट्रबल है और उनके जाने का प्रसंग नहीं बना। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हमें ज्ञात नहीं हो पाता, पर जहाँ स्वच्छ या शुद्ध हृदय से साधु के मुँह से बात निकलती है तो वह खाली नहीं जाती।

हमारी सत्यनिष्ठा, एकनिष्ठा के साथ जुड़ जाये और अविचल आस्था पैदा हो जाये तो दुःख, द्वंद्व पैदा ही नहीं होंगे। वे तब ही आते हैं जब हम विचलित होते हैं। हम अविचल हैं तो हमें कोई भी शक्ति परास्त नहीं कर सकती। क्योंकि जब हम जीवन को संस्कारित व अप्रमत्त बना ले फिर जो अनुभूति होगी वह सत्य होगी। दृढ़ श्रद्धान पैदा होगा तो प्रमाद, असंस्कार आदि स्वतः ही दूर हो जायेंगे। यह जीवन के आमूलचूल परिवर्तन की स्थिति होगी। जिसके बनने पर हमारी आत्मा भी उस स्थान तक पहुँचने की पात्रता प्राप्त कर लेगी, जिस स्थान तक प्रभु पहुँचे हैं।



अभ्यदान महादान

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी, विविध भंगी मन मोहे रे ।
करुणा, कोमलता, तीक्षणता, उदासीनता सोहे रे ॥

चरम तीर्थेश प्रभु महावीर करुणा के अथाह सागर है। उनकी करुणा का स्रोत निरन्तर प्रवाहित होता रहता है। जो भी उनके समीप पहुँचता है उसके लिए उनकी करुणा सहज रूप में प्रवाहित होने लगती है। जिसने भी अपना पात्र उनके स्रोत के सम्मुख प्रस्तुत किया वह उनके हृदय की करुणा से आप्लावित हो गया। हमारा यह सौभाग्य ही है कि इतनी लम्बी अवधि के पश्चात् भी उनका वह दिव्य उपदेश आज भी हमें प्राप्त है। उन्होंने भव्य आत्माओं के लिए करुणा पूरित हृदय से जो उपदेश दिया वह उनकी सहज अनुभूति से निसृत था। वह केवल विद्या विलास या शब्द विलास नहीं है। क्योंकि उसके शब्दों के पीछे गहरा अनुभव एवं गहन अनुभूति समायी हुई है। प्रभु कह रहे हैं-
असंख्य जीविय मा पमायए, जरोवणीयस्स हु णत्थि ताणं ॥

अर्थात् हे आत्मन् ! तेरा जीवन असंस्कारित है। जरा विचार करें कि क्या हमें बुरा नहीं लगेगा यदि हम जैसे सभ्य लोगों को प्रभु या कोई भी व्यक्ति असंस्कारित या संस्कार विहीन कह दे ? बात कठोर है इसलिये मन में पीड़ा होगी। ऐसा तब हुआ होगा जब अनाथीमुनि ने मगध सम्राट् श्रेणिक से यह कह दिया था कि तूं स्वयं अनाथ है। सम्राट् के मन में उतार-चढ़ाव अवश्य आए होंगे कि मुनि ने मुझे नहीं पहचाना, मैं सम्राट् हूँ। अनेक अनुचर मुझे प्रतिदिन नाथ, स्वामी कहकर पुकारते हैं। मैं राज्य

का स्वामी हूँ। मेरी आज्ञा के बिना कोई पता नहीं हिल सकता और मुनि मुझे कहें तूं स्वयं अनाथ है ? विचार किया, कहीं मुनि असत्य भाषण, मिथ्या कथन तो नहीं कर रहे हैं ? क्या कारण है ? श्रेणिक चुप नहीं बैठे, कहने लगे- मुनिराज ! मैंने सुना है, मुनि असत्य भाषण नहीं करते। आपने मुझे नहीं पहचाना तो बात अलग है। अन्यथा आप असत्य भाषण के दोषी बन जायेंगे। मुनि के सामने इस प्रकार स्पष्ट कथन के पीछे उनका स्वयं का व्यक्तित्व था अन्यथा यह सोचकर कि कहीं मुनि नाराज न हो जायें और शाप न दे दें, वे चुप रह जाते तो क्या स्थिति होगी। सामान्यतः व्यक्ति अपने आपको भय से उपरत नहीं कर पाता। यदि संत-महात्मा के पास पहुँचने पर भी भय दूर नहीं हो तो फिर वह कैसे दूर होगा। प्रभु महावीर के पास या किसी तीर्थकर के समवशरण में कोई पहुँचता तो वह व्यक्ति भयमुक्त हो जाता था। वहाँ भय किस बात का रहता ?

प्रभु ने स्वयं कहा है- ‘दाणाण सेट्रठं अभयप्पयाण’ दानों में अभयदान श्रेष्ठ है। आज हमने इस परिभाषा को सीमित कर दिया है। मन के अनुकूल अर्थ-संयोजना में हम तत्पर रहते हैं। हम परिभाषा करते हैं कि कोई प्राणी मर रहा है, उसे बचा लिया तो वह अभयदान है। पर विचार कीजिये, जो स्वयं भय से आक्रान्त है, भयभीत है, जिसके हृदय में अभय की बूंदे नहीं, अभय का रस नहीं, वह क्या अभय दे सकेगा। जो स्वयं को अभय नहीं कर पा रहा है वह दूसरे को अभय कैसे कर पायेगा। जिसके स्वयं के पास सम्पत्ति है वही दान कर सकता है, पर जिसके पास सम्पत्ति है ही नहीं, वह क्या दान देगा ?

हमारे पास भाव हैं तो शब्द लाभदायी हो सकते हैं यदि भाव नहीं तो वचन लाभदायी नहीं हो सकते। ‘दाणाण सेट्रठं अभयप्पयाण’ दानों में अभयदान श्रेष्ठ है पर इस अभयदान को आज हमने पर सापेक्ष मान लिया है। सोचते हैं कि कोई प्राणी आ जाये तो अभयदान देकर धर्म का लाभ प्राप्त करूँ। पर यदि कोई नहीं आया तो क्या लाभ प्राप्त नहीं किया

जा सकता है ? यही बात धर्म प्रचार एवं व्यसनमुक्ति अभियान के संदर्भ में भी सत्य है। भले ही हजारों लोगों से त्याग-प्रत्याख्यान करवाये गये हों पर फिर भी ऐसे अभियान दूसरों के सहयोग और त्याग पर निर्भर होते हैं। विगत दिनों में व्यसनमुक्ति अभियान में उन्नीस हजार लोगों द्वारा त्याग-प्रत्याख्यान करवाने की बात कही गई है। यह भी बड़ा काम था। मैं जानता हूँ, पर जो बात मैं कहना चाह रहा हूँ वह यह है कि यदि दूसरा कोई सामने नहीं है तो व्यसनमुक्ति व संस्कार निर्माण कैसे होगा ? प्रत्येक कार्य में दूसरे की अपेक्षा बनी रही तो अपने आपको, स्वयं को समझ पाने की स्थिति में नहीं रहेंगे। पहले स्वयं को अभय देने की आवश्यकता है, हमारी आत्मा स्वयं भीतर भयभीत हो तो हम दूसरों को अभय कैसे देंगे ? स्वयं के पास नहीं तो वितरण कैसे करेंगे ? कवि आनंदधनजी ने अभयदान की परिभाषा करते हुए कहा है- अभयदान ते मल क्षय करूणा, ‘तीक्ष्णता गुण भावे रे।’

यह सुन्दर परिभाषा है। यह न समझा जाये कि यदि कोई कसाई पशुओं को ले जा रहा है और हमनें रूपये देकर उन पशुओं को बचाया तो अभय दिया। नहीं यही अभयदान नहीं है। यदि यही परिभाषा बनी रही तो जिनके पास सम्पत्ति नहीं है क्या वह अभयदान नहीं दे पायेगा ? फिर तो धर्म तो पैसे वालों का हो जायेगा। पर वस्तुतः धर्म पैसे वालों का नहीं, भावना वालों का होता है। पैसे हैं पर दया, करूणा, त्याग, अभय आदि के भाव नहीं तो लाभ नहीं होगा।

एक महात्मा बैठे हुए थे। एक सेठ जिसमें बड़ी उमंग थी महात्माजी के चरणों में हजार-हजार स्वर्ण मुद्राओं की थैली लेकर पहुँचा। उसके भाव थे कि जब वह थैली समर्पित करेगा तब दुनिया देखेगी कि ये कितने बड़े सेठ हैं। हम जानते हैं कि नाम के लिए तो व्यक्ति लाखों, करोड़ों की सम्पत्ति एक क्षण में देने के लिए तत्पर हो जाता है। सेठ ने हजार-हजार अशर्फियों की 5 थैलियाँ महात्माजी के चरणों में अर्पित कर दी। फिर चारों ओर देखता हुआ वह सोचने लगा कि लोगों के हृदय उसके प्रति

प्रशंसा भाव से भरे होंगे। महात्माजी उसकी सारी गतिविधि देख रहे थे। उन्होंने उन थैलियों को ठोकर लगाकर किनारे खिसका दिया। सेठ तिलमिलाया, भरी सभा में मेरा अपमान किर दिया ? मैंने इतना धन दिया, लेना तो दूर उसे ठोकर मारकर मेरा अपमान कर दिया। फिर उसने सोचा कि यदि मैंने तिरस्कार की बात कही तो मेरा अपमान होगा, अतः यहाँ समझ से काम लेना होगा। अपमान का घूंट पीता हुआ वह कहने लगा- महात्मन् ! इतनी बड़ी सम्पत्ति को आपने ठोकर लगा दी, कौन मिलेगा इतना धन देने वाला ? फिर उसने तीन बार महात्मा के चरण स्पर्श किये, महात्मा मौन रहे। तब सेठ ने पूछा- महात्माजी आप बोले क्यों नहीं, मेरी भेंट ठुकरायी क्यों, ग्रहण क्यों नहीं की ? महात्मा ने कहाये धन किस काम का, इससे तुम्हारे अहं का पोषण हुआ है। हजारों के बीच तमु एक प्रकार का विज्ञापन कर रहे हो कि तुम दान दे रहे हो। दान के साथ यदि स्वयं को समर्पित नहीं किया तो वह दान नहीं होता, सिर्फ दिखावा होता है।

आप कहते हैं- ‘अतिथि संविभाग व्रत’ आपने इसका अर्थ जाना है या नहीं ? अतिथि के बीच कैसे संविभाग करना चाहिये ? कोई अतिथि आया, दो फुलके परोस दिये, कुछ साग भी दिया और संत आये तो इन्हें भी बहरा (दान) दिया, हो गया वितरण ? संविभाग ऐसे नहीं होता है। जैसी आपकी धर्मपत्नी अद्वार्गिनी आपके आधे अंग की मालिक होती है वैसे ही अतिथि संविभाग में हृदय में विभाग हो। हृदय में भाव नहीं, श्रद्धा-समर्पण नहीं तो वहाँ आराधना नहीं होगी। ऐसी स्थिति में एक बात और भी हो जावेगी कि-

**भेषधारी आवे घर द्वार ए, जेने शरमा शरमी देवे आहर ए।
पछे कीजे पश्चाताप ए, तो ओछो लागे पाप ए॥**

आ गया है तो देना पड़ेगा, वहाँ व्रत आराधना नहीं है। यदि आराधना करनी है तो हृदय भी अर्पित कर दो। यदि मस्तक को खड़ा रखा, वह दान की परिभाषा में नहीं पहुँचायेगा। मैं बतला रहा था

अभयदान की बात। आपने 50 बकरियाँ, 10 गायें छुड़ा ली तो क्या हो गया अभयदान ? ये काम भी ठीक है, पर ये भी विचार करो- अभय के भाव दिल में पैदा हुए या नहीं। कवि कह रहे हैं- ‘अभयदान ते मल क्षय करुणा’ भीतर जो मल, कीचड़ भरा हुआ है, वह दूर नहीं हुआ। भय भरा है, चित्तवृत्तियों में भय समाया है तो आत्मा अभय नहीं हो सकेगी। जब आत्मा का भय दूर नहीं हुआ है तो दूसरों को अभय कैसे दे पाओगे ? आज हम एक ओर तो अभयदान की बात करते हैं और दूसरी ओर हमने दूसरों के ऊपर नंगी तलवार तान रखी है तो अभयदान कैसे होगा ? एक बकरी को खूब खिलाया-पिलाया जाये पर संध्या को उसके सामने सिंह की खाल ओढ़कर उसे भयभीत किया जाता रहे, खाना तो बहुत अच्छा खिलाया, पर उसे भयभीत किये रखा तो उसका लाभ कैसे मिलेगा ?

स्थानांग सूत्र में कथा आती है- एक चोर चोरी करते पकड़ा गया। उसे राजा ने सामने हाजिर किया गया। राजा ने उसे दंडित करते हुए फाँसी की सजा सुना दी। इस राजा की चार रानियाँ थी। उन्हें एक बार राजा ने वरदान दे दिया था, जिसे उन्होंने समय पर मांगने की बात कहकर सुरक्षित कर लिया था। राजा से उन रानियों ने निवेदन किया, हमारा वरदान दीजिये। राजा ने कहा- आज ही चाहती हो तो मांग लो। क्या इच्छा है ?

पहली रानी ने कहा- वह चोर जिसे फाँसी की सजा दी गई है, एक दिन के लिए हमें सुपुर्द करें। राजा ने स्वीकृति दे दी। रानी ने चोर को खूब अच्छा खिलाया-पिलाया, अच्छे वस्त्र पहनाए और एक हजार स्वर्ण मुद्राएँ देकर रखाना कर दिया।

दूसरी रानी ने भी अपना वरदान मांगा। राजा ने सोचा ये आज ही वरदान क्यों मांग रही हैं, खैर ! मुझे तो देना ही है। उसने भी मांग रख दी और एक दिन के लिए चौर सौंप दिया गया। रानी ने भी उसे स्वादिष्ट व्यंजन खिलाए, सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत किया और दस हजार स्वर्ण मुद्राएँ पुरस्कार स्वरूप दे दी। तीसरी रानी ने भी वही चाह रखी,

उसे भी स्वीकृति मिल गई। उसने भी चोर को भोजन कराया, उसकी सेवा-सुश्रुषा की, वस्त्राभूषण पहनाए और एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ भेंट की। चौथी रानी तत्व का स्वरूप जानने वाली थी। उसमें प्रतिस्पर्धा के भाव भी नहीं थे। राग-द्वेष या सौतिया डाह से भी वह मुक्त थी। उसका जीवन संयमित एवं नियमित था। उसने प्रार्थना की- मुझे भी वरदान दीजिये। राजा ने पूछा- क्या चाहती हो ? उत्तर मिला- मैं चाहती हूँ कि चोर की फाँसी की सजा माफ कर दी जाये। राजा ने कहा- ये क्या कह रही हो ? इससे तो अपराध बढ़ेंगे, राज्य व्यवस्था सुचारू नहीं रह पायेगी। रानी ने कहा- आपने मुझे वरदान दिया है, वचन दिया है तो वह खाली नहीं जाना चाहिए, इन्कार न करिये। राजा ने कहा- मैं तो दे देता हूँ लेकिन वह आगे भी चोरी करता रहेगा तो इसकी जवाबदारी कौन लेगा ? रानी ने कहा- मैं सुधारने की कोशिश करूँगी। वैसे भी हमारी दण्ड व्यवस्था सुधार की होनी चाहिये, प्रताङ्कना की नहीं। रानी ने उस चोर को बुलाया और उसे समझाने का प्रयत्न किया। उसके कर्मों के क्षयोपशम का समय भी आ गया था। एक-एक बात उसके गले उतरती चली गई। उसने दया की भीख माँगते हुए कहा- मुझे एक बार बचा लो, मैं अपना जीवन रूपान्तरित कर डालूँगा। छोटी रानी ने न उसे भोजन कराया, न वस्त्र आभूषण दिये, न ही कोई पारितोषिक प्रदान किया। उसे खाली हाथ रवाना कर दिया। चारों रानियाँ मिली और आपस में अपने-अपने उपकारों पर गर्व करने लगी। बात बढ़ी तो वे राजा के पास पहुँची। राजा ने कहा- उस चोर को ही बुला लो, निर्णय हो जायेगा। चोर को बुलाया गया। उसने कहा- मेरे ऊपर यों तो सभी रानियों का उपकार है। पर जितना उपकार छोटी रानी का है उतना किसी का नहीं। तीनों के सहयोग से बाद भी मुझ पर मौत का आंतक था। उनका सत्कार चाँदनी की चमक जैसा था। भय से मैं भयभीत बना हुआ था। निरन्तर अभय व बचाव की इच्छा बनी हुई थी। चौथी रानी ने उस भय को दूर किया।

तीर्थकरों की आराधना के साथ यदि जीवन में दया-करुणा प्रवाहित

हो तो वहीं से अभयदान की स्थिति बनती है अन्यथा करुणा के अभाव में सिर्फ पैसों से अभयदान एक औपचारिकता होगी। श्रेष्ठ अभयदान है जीवन को समर्पित करना। यह आंदोलन, क्रांति नहीं है बल्कि एक सहज प्रवृत्ति है। धर्म-जागरण, समाज-जागरण और व्यसनमुक्ति के आंदोलन संस्कारित कर मनोबल बढ़ाने वाले प्रयास हैं। ऐसे प्रयास आत्मा को भयमुक्त करने में सहयोग करते हैं। इन्हें चलाने वाले जनकल्याणकारी कामना से प्रेरित होते हैं।

‘सर्वजन्तु हित करणी करुणा’ का ही एक रूप है। इस प्रकार जब हम सभी को अपनी आत्मा के समान देखते हैं, तब कोई पराया रहता ही नहीं। जब सभी को अपना ही मानकर चलेंगे तो ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ की भावना फलित होगी। तब यह विचार फलित होगा कि जैसी हमारी चेतना है, वैसी ही चेतना प्रत्येक प्राणी में है। उसमें अन्तर नहीं है। फिर-

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समावरेत् ।

अर्थात् जो हम चाहते हैं वही प्रत्येक प्राणी कहता है, यह भाव आ जावेगा। इस प्रकार जब हम किसी को पराया नहीं समझेंगे तब सिर्फ ‘स्व’ ही होगा। उस स्थिति में दुःख भी ‘स्व’ का दुःख होगा और पर पीड़ा में ‘स्व’ पीड़ा की अनुभूति होगी।

व्यक्ति सोचता है- दुःखी का दुःख दूर करूँ। पर यदि वह स्वयं दुःखी है, भयभीत है तो दूसरों को अभय नहीं दे सकेगा। दूसरों के बजाय स्व के दुःख को दूर करने का प्रयत्न करेगा तो फिर उसमें जो स्रोत प्रवाहित होगा, उससे प्रत्येक प्राणी आप्लावित होगा। प्रभु को जब तक केवलज्ञान नहीं हुआ प्रभु ने उपदेश नहीं दिया। वस्तुतः प्रभु उपदेश के बजाय जो कुछ करना चाहते थे वह दुःख दूर करने की तैयारी थी। स्वयं के दुःख को दूर नहीं किया तो पर-दुःख दूर कैसे कर पायेंगे यह उनका चिन्तन था ? दुःख को भी दुःख माने तब ही उसे दूर करने का प्रयास किया जा सकता है। परन्तु उनका दुःख वास्तव में सबके दुःख की उनकी

अनुभूति थी। इस बात को एक अन्य दृष्टिकोण से देखें। अंधकार कहता है- प्रकाश मेरे पास आता ही नहीं। वह मेरी बराबरी नहीं कर सकता। जहाँ मैं रहता हूँ वहाँ वह आता नहीं। प्रकाश तो मिलने को तैयार है पर अंधकार स्वयं को दूर करने की कोशिश ही नहीं करे तो प्रकाश कैसे मिलेगा ? प्रभु से जो स्रोत प्रवाहित होता है, इच्छुक व्यक्ति अपने पात्र में उसे भर सकता है। जिसे दुःख दूर करना है वह पहले अपना पात्र तैयार करे। जिससे वह उपदेश उसके लिये उपयोगी बने सके।

हम कहते हैं- ‘णमो अरिहंताणं’ हम नमस्कार क्यों करते हैं ? नमस्कार करके हम उन्हें क्या देते हैं ? यदि हम देने लगे और वे लेने लगे तो वहाँ गड़बड़ी ही पैदा होगी। उनकी अहता को ठेस पहुँचेगी। तो फिर क्या हमें ‘णमो अरिहंताणं’ नहीं बोलना चाहिए ? यहाँ तात्पर्य है कि वह नमन अरिहन्तों के लिए नहीं बल्कि अरिहंतों की तरफ है, उनकी ओर इशारा है। हम अपना पात्र उनकी तरफ नमाते हैं ताकि वह प्रवाह जो बह रहा है वह हमारे पात्र में भी समाविष्ट हो जावे। कैसे कुएं से पानी भरने के लिए बाल्टी को रस्सी के सहारे उतारकर झुकाया जाता है, वह पानी को नमन नहीं बल्कि पानी की तरफ नमन अर्थात् पात्र का झुकाना होता है। वैस ही प्रभु की तरफ हम अपना पात्र झुकाते हैं तो पात्र में अरिहंत के गुण प्रविष्ठ होते हैं। वे गुण हमारे भीतर होते हैं पर वे सुप्त दशा में होते हैं। उन्हें जागृत करना होता है। कोई बुझा दीप यदि दुनिया को प्रकाशित करना चाहे तो उसे पहले स्वयं की बाती में लौ प्रज्वलित कर प्रकाश अर्जित करना होगा। जब वह स्वयं प्रकाशित होगा तब औरों को प्रकाश दे पायेगा। बादल स्वयं पानी से भरकर झुकते हैं। फिर ठंडी हवा का झौंका मिलते ही वे बरसने लगते हैं। बादलों में पानी नहीं हो तो वे नहीं बरस पायेंगे। दीपक की बत्ती स्वयं प्रकाशित नहीं हो तो वह आलोक नहीं फैला पायेगी। इसी प्रकार जब हमारे भीतर करुणा का स्रोत प्रवाहित होता है। उसके माध्यम से हम अभयदान देकर प्राणी की सुरक्षा कर पाते हैं। व्यक्ति सोचता हैं मैंने पैसे देकर प्राणी को बचाकर धर्म

किया । केवल पैसों के दान से धर्म नहीं हो जाता । दान के साथ अहं का समर्पण भी होना चाहिए । यदि आपने अपना अहं बचाकर रख लिया तब दान का स्वरूप नहीं बनेगा । तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया है-

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गं दानं ।

अहं और लगाव नहीं होना चाहिए । दान की श्रेणी में जाना है तो अहं और लगाव को त्यागना होगा । तीर्थकर के समवशरण में शेर-बकरी एक साथ बैठते हैं, क्योंकि प्रभु के भीतर की करुणा का चारों ओर प्रसार होने से उस वातावरण में भी सभी आवेग शांत-शीतल हो जाते हैं, वैर-भाव मिट जाता है, अभयभाव उत्पन्न हो जाता है । एक प्यासा जब तालाब के तट पर पहुँचता है तब वह पानी ही नहीं पीता है, वहाँ की ठंडी हवा में कुछ क्षण थोड़ी तृप्ति की अनुभूति भी करता है । लेकिन कोई प्यास बुझाने के लिए पानी के निकट ही नहीं जाये तो प्यास कैसे बुझायेगा ? कोई गिलास भरकर दे भी दे, पर मुँह में स्वयं नहीं उड़ेलेगा तो तृषा शांत नहीं होगी । तीर्थकर के सानिध्य में तो स्वतः ही शांत वातावरण निर्मित हो जाता है । करुणा भाव से पशुओं में भी राग-द्वेष के भाव तिरोहित हो जाते हैं, वे दुश्मनी भूल जाते हैं । कभी-कभी प्रश्न किये जाते हैं कि तीर्थकर की करुणा से निकटवर्ती परिसर में राग-द्वेष नहीं रहते, ईति-भीति व्याप्त नहीं होती पर गोशालक ने प्रभु के समक्ष ही सुनक्षत्र व सर्वानुभूति पर तेजोलेश्या प्रक्षिप्त की थी । भगवान का अतिशय वहाँ काम क्यों नहीं आया ? हम सोच लेते हैं कि धर्म क्षेत्र में ये क्यों हो सका । परन्तु यदि सही तरीके से सोचें तो स्पष्ट हो जायेगा । धर्म क्षेत्र से कर्म दूर नहीं हो सकता । कर्म के उदय भाव से व्यक्ति धर्म से दूर हो जाता है । कर्म का उदय था इसलिये जमाली दूर हो गया । जब जमाली प्रभु के चरणों में आया था, तब प्रभु ने जाना- अभी अवसर नहीं है । जमाली नहीं माना । उसने कहा- मैं धर्म का प्रचार करना चाहता हूँ । भगवान चुप रहे गये । ‘अहा सुहं’ नहीं कहा । प्रभु का मन नहीं माना तो नहीं कहा । जमाली चला गया । निविड़ कर्म का उदय था तो घर का

रिश्ता था वह भी अलग हो गया। वे दो संत प्रभु के समवशरण में ढेर हो गये। क्या भगवान में करुणा नहीं थी? क्यों नहीं बचाया? उनकी करुणा का प्रवाह समाप्त नहीं हुआ था, पर वह उस स्थिति में प्रवाहित कैसे होता? जबकि आयु के दलिक ही पूरे हो रहे हों। आयु के दलिक तो भगवान भी नहीं बढ़ा सकते। भगवान के साथ भी यही हुआ था। जब भगवान के अंतिम क्षणों को निकट जानकर शक्रेन्द्र ने निवेदन किया- भंते! आपकी जन्म राशि पर भस्म ग्रह का प्रभाव है अतः आप आयु कुछ समय के लिए बढ़ा लीजिये अन्यथा शासन में उतार-चढ़ाव की स्थिति बनेगी। भगवान ने कहा- तीर्थकर में अनंत शक्ति है पर कोई भी आयु के दलिकों को बढ़ाने में सक्षम नहीं है। एक पल भी नहीं बढ़ाया जा सकता। द्वय मुनियों की भी आयु पूर्ण हो गई थी। कर्म का योग वैसा ही था। निकाचिते का भोग उस रूप में ही होना था। भगवान यह जानते थे, वे उन्हें विहार भी करा सकते थे। विहार कराने में तो पाप नहीं था पर कर्म का योग ही ऐसा था।

अभयदान का स्रोत तो सहज ही प्रस्फुटित होता है। जिसके हृदय में स्रोत प्रवाहित नहीं वह धर्म की आराधना नहीं कर सकता। ऊपर से वह भले ही स्वयं को धर्मात्मा दिखाये, पर वस्तुतः धर्म में उसका प्रवेश नहीं हो सकता।

एक व्यक्ति चमड़े की मशक में हवा भरकर ऊपर से गांठ लगाकर नदी में प्रवेश करता है। नदी में बहुत समय तक रहकर जब वह बाहर निकलता है तब वह मशक खाली ही रहेगी। भरना है तो उसे खोलना होगा, बंद करके एक दिन तो क्या एक माह में भी इसमें पानी नहीं भर पायेगा। हम धर्मक्षेत्र में हृदय को भावों से नहीं भरें तो अनुकम्पा का स्रोत भी प्रवाहित नहीं होगा। ऊपरी निरीक्षण तो केवल छलावा या धोखा होगा।

एक भाई एक घर में पहुँचा, जहाँ उसके अच्छे संबंध थे। संयोग से उस घर में उस समय कोई सदस्य मौजूद नहीं था लेकिन उस घर में बर्तन में ताजे सेब रखे थे। इसे सेब पंसद थे, मुँह में पानी भी भर गया। एक

मन कहने लगा ग्रहण कर लूं, पर दूसरे क्षण ही मन ने कहा नहीं, नहीं लूँगा। वह बैठा रहा। इतने में जिससे मिलना था वह भी आ पहुँचा। देखा सेव फल पड़े हैं। कहा- क्या तुम्हें सेव पसंद नहीं है ? उत्तर मिला- पसंद तो है। पूछा गया- फिर तुमने क्यों नहीं लिये ? उत्तर मिला- आप कोई भी उपस्थित नहीं थे इसलिए उपयोग नहीं किया। विचार करें कि जब घर में कोई और नहीं था तब उसे सेव खाते देख भी कोई नहीं सकता था। उस स्थिति में उस पर सेव की चोरी का आरोप भी नहीं लग सकता था। जब कोई देखे तो ही ईमानदारी, नहीं तो बेर्इमानी। यह तो स्वयं की नजरों में ही गिरना है। बेर्इमान बनने वाला पहले स्वयं की नजरों में गिरता है फिर इतना अभ्यस्त हो जाता है तो दूसरों की नजरों से गिरने में भी इसे लज्जा नहीं आती। हजारों बार स्वयं की नजरों में गिर चुका है। फिर कोई देख भी रहा है तो इसे क्या फिक्र। बेर्इमानी पहले भीतर पनपती है। ‘स्व’ की नजर को धोखा दिया तो आने वाला समय माफ नहीं करेगा। वह भले ही यह समझे कि उसने दूसरों को धोखा दे दिया है पर वह यह स्वयं को ही धोखा देता है। ऐसा व्यक्ति निश्चित रूप से असंस्कारित है।

जो स्वयं के साथ बेर्इमानी कर सकता है। वह सभी प्राणियों को आत्मवत् कैसे मान पायेगा। प्रभु ने सम्बोधित किया है- तुम्हारा जीवन असंस्कारित है। सधने वाला नहीं है। यदि तुम्हें जीवन को सुरक्षित रखना है तो प्रमाद मत करो। नहीं तो थोड़ा-सा पानी बरसा और ये घास इतनी फैल जावेगी कि आत्मा को ढक लेगी। असंस्कारों की छाया में चेतना तिरोहित हो जावेगी। अभयदान की स्थिति से या बारहवें व्रत को निपजाने से पूर्व हृदय को टटोलें, हमारा हृदय भर रहा है या नहीं ? हम केवल बुद्धि की संतुष्टि कर लें, तो वह पर्याप्त नहीं होगा। उससे कोई लाभ भी नहीं होगा। भले ही औपचारिकता पूरी हो जाये। जीवन से प्रमाद को दूर करें तो असंस्कारित अवस्था दूर हो सकती है। फिर जीवन संस्कारित हो सकेगा।

तीर्थकर छद्मस्थ अवस्था में उपदेश नहीं देते, पर मल क्षय होने पर आवरण हटता है तो एक घटना घटती है। हमारे भीतर भी वह घटना घटित हो सकती है। जब हम चकित होंगे, अनुभूति में जो कुछ उपलब्ध होगा उसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकेगा। यह हृदय का जागरण होगा कोई बौद्धिक उड़ान नहीं।

हमें यह सब समझकर जागना है। संत ही नहीं, स्वाध्यायी भी जगाने का काम करते हैं। हमारी तो पुण्यवानी है कि उनके माध्यम से हम जब चाहें संतों का उपदेश सुन लेते हैं। यह उनके स्वयं के लिए भी लाभदायी है। इसलिये आप में आग्रह है कि स्वाध्याय के क्षेत्र में आगे बढ़ें। आप जब स्वाध्यायी के रूप में जिस क्षेत्र में पहुँचेंगे, तो अपने भाईयों के हृदय की एक-एक धड़कन सुन पाएंगे। उनके स्नेह एवं अपनत्व भाव से आपका हृदय आप्लावित हो पायेगा। आप देखें कि वे संतों के लिए ही नहीं आपके लिए भी कितनी भावना श्रद्धानिष्ठ रखते हैं। परन्तु ध्यान रखें कि सम्मान के साथ कहीं अपमान भी मिल जाये तो भी सहज भाव से स्वीकार करें। वह आपकी परीक्षा होगी। अपमान में भी त्याग की धारा अविचल बनी रहे तब समझिये कि वह करुणा का स्रोत आपके भीतर प्रस्फुटित हो गया है। वह स्रोत सतत् प्रवाहित रहे, जा कभी सूखे नहीं यह सुनिश्चित कर पाना ही सच्ची परीक्षा होगी। यही निष्ठा एवं दृष्टि व्यसनमुक्त अभियान के विषय में भी होनी चाहिए। यदि एक-एक व्यक्ति संकल्प करें कि मैं पाँच-पाँच व्यक्तियों को व्यसनमुक्त करूँगा तो बहुत बड़ी सफलता मिल सकती है। शराब के ठेके व बूचड़खाने हटाने में भी ऐसे प्रयास कारगर होंगे। परन्तु हमारे ये आंदोलन औपचारिक अथवा दिखावे के नहीं, निष्ठा मन की शुद्ध भावना से प्रेरित होने चाहिए। यदि नींव मजबूत डाल दी गई तो फिर चाहे जितनी मंजिल बनाओ, मकान नहीं गिरेगा। इसलिए हमें जमीन से आंदोलन उठाना है। इस रूप में जिनशासन की छवि को निखारने में भी हमारा योग बनेगा। भगवान ने कहा है- शासन में उतार-चढ़ाव आयेंगे। वह नीचे जायेगा तो

ऊपर भी उठेगा। ऊपर उठने में आप सहयोगी बनेंगे तो आप स्वयं को भी गौरवान्वित करोगे। कर्तव्य और धर्म का ऐसा एक साथ निर्वाह कर्मबंध काटकर आपको मोक्ष मार्ग का पथिक बना देगा। इस जीवन की इससे बड़ी और कोई उपलब्धि नहीं हो सकती।

दि. 13.10.96



अविद्या से मुक्ति : जीवन की सिद्धि

श्री श्रेयांस जिन अंतरयामी आत्मरामी नामी रे ।
अध्यात्म मत पूरण णामी, सहज मुक्ति गति गामी रे ॥

जावन्तऽविज्ञापुरिसा सव्वे ते दुक्ख संभवा ।
लुप्पन्ति बहुसो मूढा संसारम्मि अणन्तए ॥

उत्तराध्ययन सूत्र 6/1

इस संसार में अविद्यावान पुरुष स्वयं के लिये दुःख उत्पादित करते हैं और मूढ़ बने इस अनंत संसार में बार-बार आधि-व्याधि, वियोगादि दुःख से पीड़ित होते हैं। इस कथन के संदर्भ में श्रेयांस भगवान की साधना पर दृष्टिपात अज्ञान का नाश करने वाला बन सकता है।

श्रेयांसनाथ भगवान श्रेय मार्ग पर अग्रसर हुए और श्रेय मार्ग की पूर्णता को प्राप्त कर उन्होंने बताया कि संसार में मनुष्य के सम्मुख दो मार्ग हैं- पहला श्रेय मार्ग और दूसरा प्रेय मार्ग। इन दोनों का संकेत कविता की पंक्तियों में भी किया है। इन्द्रियरामी और आत्मरामी ये दो अवस्थाएँ हैं। इन्द्रियाँ पौद्गलिक हैं। जब व्यक्ति इनकी दिशा में बढ़ता है तो वह गति होती है प्रेयमार्ग की ओर, जहाँ अंतर आत्मा की दिशा में गति करे तो वह श्रेय मार्ग पर बढ़ता है। श्रेय मार्ग वही है जिससे वह अपने स्वरूप को साध सके और उसमें स्थित हो सके।

एक शिष्य गुरुचरणों में अध्ययनरत था। ध्यान कोष्ठक में निवृत्त होते हुए एक प्रश्न उभरा, विचार पैदा हुआ- मुक्ति कैसे प्राप्त हो सकती

है ? पहुँचा गुरुदेव के चरणों में और पूछने लगा- गुरुदेव ! कर्मबंध की क्रिया से संसार है तो मोक्ष क्या है ? गुरु ने कहा- चलो वत्स । इसकी भी खोज करें । दोनों साथ-साथ चलने लगे । चलते-चलते वे एक नदी के किनारे पहुँचे । संयोग से एक लाश उस नदी में तैरती जा रही थी । गुरु ने इशारा करते हुए पूछा- वत्स ! ये क्या है? उत्तर मिला गुरुदेव यह एक मनुष्य की देह है, शरीर है । गुरु वापस लौटने लगे । शिष्य ने कहा- गुरुदेव । आपने तो कहा था मुक्ति की खोज करने चलें और आप यहीं से लौटने लगे । मैं तो मुक्ति का उपाय जानना चाहता हूँ । गुरु ने कहा-भाई मैंने तुम्हें उत्तर दे दिया ? मैं तो कुछ समझा नहीं । बात संकेत में कही गई थी । संकेत को शिष्य समझ नहीं पाया तब गुरु ने कहा- गहराई से विचार करो । लेकिन फिर भी जब शिष्य नहीं समझा तो गुरु ने पूछा- तुमने क्या देखा ? उत्तर मिला- मनुष्य की देह तैरती जा रही है । प्रश्न हुआ- तो फिर उससे तुमने क्या कुछ प्राप्त किया ? उत्तर मिला- गुरुदेव, मैं क्या प्राप्त करता वह तो नदी के बीच तैरती जा रही थी । गुरु ने कहा- देखो वत्स ! यही मुक्ति का मार्ग है । आप विचार करेंगे कि ये कैसा मुक्ति का मार्ग हैं । लाश नदी में तैर रही तो उसे मुक्ति का मार्ग कैसे कहा जाये ? पर गुरु कह रहे हैं । जब शिष्य नहीं समझा तो गुरु ने स्पष्ट किया कि जब तक व्यक्ति स्वयं में, अपने मस्तिष्क में बोझ को लेकर चलता है, तब तक वह बोझिल बना रहता है और तब तक वह मुक्ति की दिशा में आगे नहीं बढ़ सकता । पर जैसे ही वह बौझ हल्का करता है वह स्वयं भी हल्का हो जाता है । हल्का होना ही मुक्ति का मार्ग है । हल्का होने पर तैर सकता है । जिस व्यक्ति को तैरना नहीं आता और जो कभी नदी में नहीं उतरा वह नदी में उतरने में डरता है, सोचता है तैरना नहीं आता इसलिये झूब जाऊँगा । परन्तु सत्य यह है कि वह तिरना नहीं जानता है इसलिए नहीं झूबेगा, बल्कि इसलिए कि उसके माथे पर भार भरा हुआ है । वह तनाव में रहेगा, भयभीत रहेगा कि कहीं झूब न जाऊँ और इस बोझ से वह झूब जाता है । पर ज्योंहीं भार हल्का हुआ, वह सतह पर आकर तिरने लगता है । मर जाने पर लाश पानी के ऊपर

आकर तैरने लगती है। इसलिए कि तनाव दूर हो गया होता है, भार उतर गया होता है।

महाभारत की भी घटना है। द्रौपदी को जब राजसभा में लाया गया और दुःशासन उसके वस्त्र खींचने का प्रयत्न करने लगा तक पहले तो द्रौपदी ने स्वयं को बचाने की बहुत कोशिश की। इधर से उधर धूमती रही। साड़ी को लपेटे रखने के सभी प्रयत्न करती रही। जब तक निर्वस्त्र हो जाने के भय का बोझ रहा उसकी हालत दुविधाजनक रही। पर जैसे ही उसने बोझ को अलग किया और स्वयं को परमात्म-चरणों में समर्पित किया, वैसे ही चीर बढ़ने लगा, बढ़ता चला गया।

कैसे हो गया यह सब ? गुरु ने कहा- शिष्य ! यदि तू मुक्ति की डगर पर बढ़ना चाहता है तो अपने हाथ-पाँव पछाड़ना छोड़ दे, बचाव की कोशिश छोड़ दे। जैसे मृत कलेवर जिधर उसे बहाव ले जाता है उधर ही बहता चला जाता है वैसे ही तू अपने आप को समर्पित कर दे। जो भी दिशा-निर्देश मिले उस पर बढ़ता चला जा। बस यही मुक्ति की डगर है। जब तक व्यक्ति आशा-आशंकाओं के ताने-बाने बुनने में लगा रहता है, सोचता रहता है कि मैं ही सबकुछ कर रहा हूँ, वह अलग अपने लिये समस्याएँ खड़ी करता रहता है। पर जब सोच लेता है कि मुझ में शक्ति कहाँ है, मुझसे बढ़कर कितने ही शक्तिशाली है, मैं तो कुछ नहीं हूँ। मैं कर ही क्या सकता हूँ। वैसे ही उसे आगे का मार्ग दिख जाता है। कभी-कभी भाई कुछ धर्मस्थान आदि की व्यवस्था कर देते हैं, अस्पताल आदि की सुविधा उपलब्ध कर देते हैं तो प्रसंग आने पर उनमें अहं का अलग ही भाव पैदा हो जाता है- मैंने धर्मस्थान बनाया है, अस्पताल बनवाई है। भाई तूने क्या करवाया ? चक्रवर्ती के पास छः खण्ड थे। उसने क्या-क्या नहीं बनाया होगा, पर क्या रहा ? उसके साथ क्या गया ? तुम क्या ले जाआगे ? ये भाव साथ जुड़ते हैं तो वे मुक्ति के रोधक बनते हैं।

एक वृद्ध महिला पारिवारिक सदस्यों के बीच रहते हुए जीवन व्यतीत कर रही थी। कुछ खेती आदि से कपास पैदा होता था। जितना

कपास होता वह उससे सूत कातती। परिवार के सदस्य उससे कपड़ा बना लेते। जितना पारिवारिक सदस्यों के लिए आवश्यक होता, रख लेते बाकि विक्रय कर देते। परिवार में शांति थी, कोई सुविधा नहीं थी।

एक दिन वृद्धा ने देखा उसकी झौंपड़ी के सामने से कुछ बैल-गाड़ियाँ जा रही थी। वृद्धा ने पूछा- ये गाड़ियाँ कहाँ जा रही हैं? इनमें क्या भरा है? पोतों ने बताया दादी! इसमें कपास भरा हुआ है, ये गाड़ियाँ शहर की ओर आगे बढ़ रही है। वृद्धा ने अपने जीवन में कभी इतना कपास देखा नहीं था, आज अनेक गाड़ियाँ देखीं तो उसके माथे पर बोझ हो गया। और, यह इतना कपास है, इसका सूत कौन कातेगा? मस्तिष्क पर इतना दबाव पड़ा कि उसका सारा काम छूट गया। कोई भी आये तो यही कहती इतने कपास का सूत कौन कातेगा? वह सारा कार्य भूल गई सिर्फ एक ही बात याद रही। मस्तिष्क पर बोझ हो गया। सारा काम ठप्प हो गया। परिवार के सदस्य समझ नहीं पा रहे थे कि क्या किया जाये?

गाँव में एक हकीम साहब थे, उन्हें भी दिखाया गया। हकीम साहब बीमारी पकड़ नहीं पाये। बीमारी हो तो समझ में आये। संयोग से एक व्यक्ति बाहर से यात्रा करता हुआ वहाँ पहुँचा। संध्या हो रही थी तो उसने रात्रि विश्राम के लिए स्थान माँगा। वृद्धा ने स्थान दे दिया, वह वहीं ठहर गया। बात ही बात में वृद्ध महिला की बात सामने आई। उसने सोचा, कोई उपाय करना चाहिए। परिवार वालों से कहा- इसे मैं ठीक कर सकता हूँ। उन्होंने कहा- हम तो बहुत परेशान हैं, आप जल्दी ठीक कर दीजिए। उसने कहा- घबराओ मत, बीमारी ज्यादा गंभीर नहीं है, ठीक हो जायेगी। वह मांजी के पास पहुँचा, मांजी के चरण छुए। वृद्धा ने पूछा- तुम कहाँ से आ रहे हो? मैं शहर से आया हूँ। और बेटा! इतना सूत कौन कातेगा? आगंतुक ने कहा- मांजी आपको मालूम नहीं क्या, जो गाड़ियाँ इधर से गई थीं उनमें आ लग गई और सारा कपास जल गया। वृद्धा ने पूछा- क्या सारा कपास जल गया? हाँ मांजी सारा कपास जल गया। मांजी ने शांति की श्वाँस ली, चलो एक समस्या दूर हुई। अच्छा हुआ तो जल गया, नहीं तो इतना सूत कौन कातता? काम के

लिये एक वही है तो और कोई है ही नहीं। जल गया, पिंड छूटा और वह पुनः अपने काम में लग गई। ये था उसके मस्तिष्क के बोझ का प्रभाव। आज व्यक्ति समझ नहीं पाता है, अनेक चिन्ताओं से घिरा रहता है और चाहता है मुक्ति डगर। इसलिये कठिनाईयाँ तो आयेगी पर जैसे ही वह बोझ को हल्का करके आगे बढ़ेगा मार्ग सरल हो जायेगा। गुरु ने कहा- जैसे ही व्यक्ति हाथ-पैर पछाड़ना छोड़ता है और सबकुछ अनुशास्ता पर छोड़ चिन्ता मुक्त हो कह देता है-

अब सौंप दिया इस जीवन का सब भार तुम्हारे हाथों में

अब चाहे तारना या मारना, मेरी जीवन नैया की पतवार तुम्हीं हो। वह ‘तुम’ कौन है ? उसे चाहे गुरु कह दें चाहे परमात्मा कह दें, पर वह है हमारी आत्मा ही और यह आत्मा ही परमात्मा बनने वाली है। जब वह पतवार यथार्थ में परमात्मा के चरणों में समर्पित कर देता है जब फिर कोई चिन्ता नहीं रहती, कोई तनाव नहीं रहता, कोई बोझ नहीं रहता और जब बोझ नहीं रहता तो फिर वह श्रेय के अंश को प्राप्त कर लेता है। श्री श्रेयांस भगवान के मस्तिष्क पर भी अवतरित होने से पूर्व अनेक प्रकार का भार था। आज भी मैं जिस गाथा का उच्चारण कर गया- ‘जावंतऽविज्ञा पुरिसा।’ अर्थात् जब तक अविद्या का वास हमारे मस्तिष्क में बना रहेगा, वह बोझ हल्का नहीं होगा तब तक श्रेयांसनाथ भगवान की डगर में व्यक्ति के पैर नहीं बढ़ पायेंगे। तब सोचें यह अविद्या क्या है ? इसे विद्या के संदर्भ में देखें। कहा गया है- ‘सा विद्या या विमुक्तये’ अर्थात् विद्या तो मुक्ति को दिलाने वाली है। परन्तु जहाँ विपरीत विद्या या अविद्या है वहाँ मुक्ति नहीं होगी वह तो बाधक बनेगी। कवि आनन्दघनजी कह रहे हैं- ‘जे किरिया करी चहुगति साधे, ते न अध्यात्म कहिये रे।’

क्रिया एक है, फल दो होते हैं। जो क्रिया संसार को बढ़ाने वाली है वही घटाने वाली भी बन जाती है। उदाहरण के रूप में घर में एक बच्चा जिसके हाथ में चाकू है। इस चाकू से साग-भाजी आदि काटी जाती है, पर इसी से वह हाथ की अंगुली भी काट सकता है और उसी से डॉक्टर

चीर-फाड़कर बीमारी दूरकर जीवन दान दे सकता है। कुछ असामाजिक तत्व हिंसा के लिये भी चाकू का प्रयोग करते हैं। चाकू चलाने की क्रिया तो एक है पर भावों के आधार पर उसके प्रयोग की क्रिया भिन्न व्यक्ति के आधार पर भिन्न होती है। यदि भावों में अविद्या का वास है तो वह क्रिया व्यक्ति को मुक्ति की ओर नहीं ले जा पाएगी, परन्तु यदि अविद्या का दबाव नहीं रहा तो वह मुक्ति की ओर बढ़ सकता है। दबाव से बढ़ने वाला अभवी जीव कहलाता है। ऐसा व्यक्ति साधु जीवन भी स्वीकार कर ले, गौतम स्वामी जैसी कठोर क्रिया भी कर ले पर उसको मोक्ष अनन्तकाल तक भी प्राप्त नहीं होगा। जब तक अविद्या का दबाव है, कोई भी कठोर आराधना उसे एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा पायेगी। उसका कभी मोक्ष नहीं है क्योंकि ऊपर दबाव होने से वह मोक्ष की दिशा में नहीं जा पाएगा, न ही इन्द्रियरामी अवस्था से हटकर अंतररामी/आत्मरामी अवस्था की ओर बढ़ायेगा। इसलिए कवि आनन्दघनजी ने इन्द्रियरामी अवस्था के लिए कहा है- ‘संयम संसारी इन्द्रियरामी’।

जितने भी संसारी इन्द्रिय पोषण में लगे हुए हैं, वे श्रेयमार्ग को प्राप्त नहीं हुए हैं। वे तो इन्द्रिय पोषण के क्षणों में भूले हुए हैं और इस कारण आत्म-पोषण से दूर हैं। यद्यपि मुनि भी भोजन करते हैं पर उस प्रकार के पोषण में अथवा आहार क्रिया में अंतर होता है। अविद्या हटते ही यह परिवर्तन हो जाता है। जब तक अविद्या है व्यक्ति इन्द्रिय पोषण में लगा रहता है, पर अविद्या के हटते ही वह सोचता है मुझे इन्द्रियों को बलिष्ठ नहीं बनाना है बल्कि आहार इसलिए लेना है ताकि साधना में वे सहयोगी बनी रहें। उनके सहयोग से आत्म प्राणों का नियमित रूप में विकास कर सके। इस प्रकार की भावना के कारण रूपान्तरण हो जाता है क्योंकि बोझ हट जाता है और साधक श्रेयांसनाथ भगवान के मार्ग पर बढ़ने लगता है। तब यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा यदि बोझ लेकर चले तो वह अपना उठाव कर नहीं सकेगी। वह तो हल्की होकर ही अपना उठाव कर सकती है। भगवती-सूत्र में जयन्तीबाई ने प्रश्न किया- भगवन् ! जीव किस कारण से भारी व किस कारण से हल्का होता है ? भगवान ने उत्तर

दिया- प्राणातिपात आदि 18 पापों के आचरण से जीव भारी व 18 पापों के त्याग से हल्का होता है।

तुम्हे के उदाहरण से इस बात को समझें। एक तुम्बा है। उस पर गीली मिट्टी का लेप लगाया गया। उसे सुखाकर फिर से ऊपर डोरी लपेट कर फिर लेप लगाया गया। इस प्रकार आठ बार लेप करके फिर उसे पानी में डाला जाये तो वह ढूब जायेगा। पर जब धीरे-धीरे मिट्टी गलेगी, डोरों के बंधन शिथिल होकर खुल जायेंगे तो वह तुम्बा ऊपर आ जायेगा। प्रभु महावीर ने कहा है ये लेप अविद्या का पोषण करते हैं। बोझ उतना ही गहरा पहुँचता है जितना वह भारी हो जाता है। यदि व्यक्ति पापों से वितर होकर लेपों को दूर करने में संलग्न हो जाये तो धीरे-धीरे सारे लूप दूर हो जायेंगे और वह निर्लेप हो जायेगा। तब उसे तिरने में, ऊपर उठने में देर नहीं लगेगी। अविद्या से बोझिल बने रहने पर गति में उसी प्रकार प्रकर्षता नहीं आयेगी जैसा कोई चाहे कि 8-10 किलो का भार लेकर पहाड़ी पर शीघ्र चढ़ जाऊँ। ऐसा प्रयास करने वाला शीघ्र ही थक जाएगा और क्षेत्रीय दृष्टि से ऊपर नहीं उठ पायेगा और यदि कहीं नीचे गिर गया तो फिर स्थिति गंभीर हो सकती है। वह व्यवस्थित नहीं रह पाएगा। उससे विपरीत जो बोझ से हल्का होता है वह उर्ध्वगति शीघ्रता से कर सकता है। इस कथन से अध्यात्म की दृष्टि से विचार किया जाये तो पाप से हल्का होने पर उत्क्रान्ति हो सकती है।

प्रसंग है जब हनुमान लंका में पहुँचे तो उनका विकराल रूप था। उन्हें इन्द्रपाश से बाँध दिया गया, सोचने लगे मैं मुक्त कैसे होऊँ ? तनाव छोड़ा, शरीर को शिथिल किया, बंधन ढीले पड़ गए और वे निकल कर स्वतंत्र हो गये। जब तक हम तनाव में रहते हैं बंधन जकड़ता चला जाता है। जैसे रेशम की डोर में गाँठ कसकर पक्की हो जाती है, पर यदि बंधन को ढीला छोड़ दें तो वह गाँठ कसती नहीं। तनाव में ग्रन्थि ढीली नहीं होगी, बढ़ेगी। यद्यपि रस्सी का वजन कम-ज्यादा नहीं होगा, पर लम्बाई में अन्तर आ जायेगा। वह सिकुड़ जायेगी। गुरु ने बताया- शिष्य यह है मुक्ति का मार्ग- तनाव को दूर करो और यह होगा योग के निरोध से।

योग-निरोध के लिये ध्यान का प्रावधान है। ध्यान ही वह अवस्था है जिसमें तनाव दूर हो जाता है, शरीर शिथिल हो जाता है फिर विचारों में भी शैथिल्य आ जाता है। मानसिक धारा शिथिल होने पर चित्तवृत्तियों के लेप गिर जाते हैं और गिरने का वह क्षण शांति का क्षण होता है। योग करने वाला शरीर को शिथिल करता है। शवासन में मुर्दे जैसा पड़ जाता है, हलन-चलन नहीं रहती, निष्क्रियता आ जाती है। शरीर बहुत कुछ निष्क्रिय होने पर धीर-धीरे लगेगा कि श्वास भी नहीं है परन्तु उस अवस्था में घबराना नहीं चाहिये। लगेगा जैसे शरीर हवा में उड़ रहा है ऐसा होता है। कल्पना की बातें नहीं हैं। ये स्थितियाँ वस्तुतः बनती हैं शिथिलीकरण से। ऐसी अवस्था में विचार भी तिरोहित हो जाते हैं, सुषुम्ना प्रवाहित होने लगती है। फिर लगता है कि शरीर पड़ा है पर आत्मा ऊर्ध्वारोहण कर दिव्यलोक में विचरण कर रही है। पर ऐसा होगा शरीर को शिथिल करने पर ही। यदि शरीर में दर्द है तो वह भी ऐसी अवस्था में शांत हो जायेगा। विकार भी शांत हो जायेंगे और यदि विकार शांत हो गए तो एक दिन मोक्ष मार्ग के पथिक भी बन पायेंगे।

श्रेयांसनाथ भगवान ऐसी साधना से ऊर्ध्वमुखी होकर सदा-सदा के लिए निरंजन, निराकार अवस्था को उपलब्ध हुए। उनका उदाहरण सामने है।

अपने जीवन को सुसंस्कारित एवं ऊर्ध्वमुखी बनाने के इच्छुक साधकों को उनसे शिक्षा लेनी चाहिये क्योंकि उनका अनुकरण कर ही श्रेय मार्ग पर गतिमान हुआ जा सकता है। मोक्ष की दिशा में ले जाने वाला यही मार्ग है, यह ध्यान में रखना आवश्यक है।

दि. 16.10.96



आध्यात्मिकता की प्राप्ति का मार्ग

श्री श्रेयांस जिन अंतरयामी आत्मरामी नामी रे ।
अध्यात्म मत पूरण णामी, सहज मुकित गति गामी रे ॥

यह विचार का विषय है कि आध्यात्मिक साधना से तात्पर्य क्या है? संदर्भ में श्रेयांसनाथ भगवान की प्रार्थना करते हुए कवि ने कहा है- अध्यात्म मत पूरण पामी । अर्थात् श्रेयांसनाथ भगवान ने अध्यात्म मत को पूर्णता से प्राप्त कर लिया है । अधिआत्मनि सप्तमी विभक्ति में अधि उपसर्ग का उपयोग होता है जिसे आत्मा के साथ जोड़ देने पर अर्थ हुआ ‘आत्मा में’ । अध्यात्म का तात्पर्य हुआ आत्मा के भीतर । तब अध्यात्मत का अर्थ हुआ भीतरी अवस्था को जिसने पूर्णता से जान लिया है । आत्मा के भीतर तो राग, द्वेष, कषाय आदि भी हैं यद्यपि वे सभी इस रूपी आत्मा से संबंधित हैं तथापि वे आत्मा के स्वाभाविक गुण नहीं हैं । पर उन्होंने आत्मा में अपना अवस्थान बना रखा है उसी प्रकार जिस प्रकार किसी का भला करने के लिए या घर पर आये अतिथि का सत्कार करने के लिये उसे घर में स्थान दे दिया जाये । लेकिन आ जाने के बाद घर पर वह अपना कब्जा जमा ले । यह कब्जा वह स्वयं ही नहीं बल्कि परम्परात, वंशानुगत अवस्था से चलता रहता है । वैसे ही अनादिकाल से राग-द्वेष का कब्जा हमारी आत्मा पर अब तक चला आ रहा है । उसकी पीढ़ी अब भी कब्जा जमाये हुए है । वह भी अध्यात्म कहलाता है, पर वह अध्यात्म की अवस्था नहीं है । अध्यात्म की अवस्था में आत्मा के मौलिक गुणों अथवा धर्मों का ही प्रकटीकरण होता है । जैसे घर पर उसके मूल

निवासियों का अधिकार होता है, अतिथियों का नहीं। तब वह है अध्यात्म मत की पूर्णता। श्रेयांसनाथ भगवान ने आत्मा के एक-एक धर्म को या श्रेय मार्ग के एक-एक अंश को प्रकट करते हुए पुरुषार्थ से पूर्णता को प्राप्त किया। ऐसे अध्यात्म में बाधक होती है- अविद्या। अविद्या के अनेक रूप हैं। जड़ एक है पर उसका फैलाव अलग-अलग सब ओर होता है। कोई सोचे एक ओर से काटूँ तो वह दूसरी ओर से फैलने लगती है। उसी प्रकार जिस प्रकार एलोपैथिक दवा एक व्याधि को दूर करने के लिए ली जाती है, वह उस बीमारी पर सीधे असर तो दिखाती है पर प्रतिक्रिया के रूप में दूसरे रोगों को भी उत्पन्न कर देती है। अविद्या की भी ऐसी ही स्थिति है उसके एक रूप को हम पछाड़ते हैं तो वह पलट कर दूसरे रूप में उभर आती है। जैसे गिरगिट रंग बदलता है वैसे ही अविद्या भी अनेक रंग बदलकर सामने आती है। जब वह प्रिय दोस्त बनकर आती है तब हम सोचते हैं कि ये मेरा अंश है, उसे प्रोत्साहन मिलता है और वह फैलाव प्रारंभ कर देती है। इसलिए प्रभु ने कहा है- ‘जावंतऽविज्ञा पुरिसा...;’ जब तक बीज पड़ा है तब तक दुःख-श्रृंखला नष्ट नहीं होगी। किसी न किसी रूप में वह बीज उभरता रहेगा। एक दुःख दूर होगा तो थोड़ी देर में वापस दूसरा दुःख उत्पन्न हो जायेगा।

एक घर में रात्रि के समय में मेहमान आये। उनकी खातिरदारी की गई। पर संयोग ऐसा बना कि भोजन में कोई जहरीला जन्तु गिर गया। भोजन करके सभी सो गए। सुबह देखा गया सभी समाप्त हो गये थे। आयु पूर्ण कर गये थे। घरवाले ने देखा यदि पुलिस को ज्ञात हो गया तो यही कहेंगे कि इन्होंने जहर दिया होगा। वे सोच ही रहे थे कि क्या करें? इतने में एक गरीब आ गया। भूखा था बोला खाने के लिए कुछ मिल जाये। सहसा गृह-स्वामी के मन में विचार आया कि क्यों न इस व्यक्ति का उपयोग किया जाये। उसे अन्दर बुलाया और एक लाश कपड़े में बाँध कर कहा इसे शमशान के पास डालकर आओगे तो तुम्हें भरपेट भोजन दिया जावेगा। उसने कहा- ठीक है। भोजन की आशा से पोटली

उठाकर डाल आया तो गृहस्वामी ने कहा- वाह रे वाह ! तुम कहाँ डाल आये थे । यह लाश तो वापस आ गई । वह दूसरी छोड़कर आया फिर तीसरी छोड़कर आया । दूसरी बार तो गड्ढे में डालकर आया । तीसारी बार नदी में डाल आया । जब चौथी बार भेजा गया तब वापस आकर उसने कहा- अब मेरे वश की बात नहीं है । पता नहीं ये कैसा भूत है । ऐसा ही भूत अविद्या का है । पर व्यक्ति समझ नहीं पाता ।

कहने का तात्पर्य यह है कि अविद्या के कारण दुःख श्रृंखला चलती रहती है, फिर पतन होता है । ऐसी स्थिति में अध्यात्म दिशा में पूर्णता प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई होती है ।

एक और उदाहरण लें । अंजलि की सहसा नींद खुली वह गुस्सा करने लगी । कभी व्यक्ति को नींद आ रही हो और बीच में जगाने का प्रयास किया जाये तो उसे गुस्से आ जाता है । कारण था कुछ खट-खट की आवाज का सुनाई पड़ना, जिसके कारण अंजलि की नींद खुल गई थी । नींद खुलते ही दिमाग पर प्रेशर पड़ा और उसे गुस्सा आ गया । आवाज थी श्वसुरजी के खड़ाऊ की । पहले तो वे चम्पत पहनते थे, पर अब जब से पूजा भवित में लगे हैं तब से खड़ाऊ ही पहनते हैं जो लकड़ी के होते हैं और जिन्हें पहनकर चलने पर खट-खट की आवाज होती है । अंजलि से रहा नहीं गया । पास सो रहे पति को जगाया- कुंभकरण से सोये रहोगे या उठोगे । मैं कुंभकरण नहीं हूँ । खट-खट से आपकी नींद नहीं खुली क्या ? उत्तर मिला- खुली थी पर करूँ तो क्या करूँ ? एक दिन की बात तो है नहीं, रोज-रोज की है । आखिर कब तक चलेगा ? नींद हराम हो गई है, ऑफिस में भी सुस्ती रहती है । बॉस नाराज होते हैं । पत्नी ने कहा- आप पिताजी से बात क्यों नहीं करते लेते हैं ? पति को सिहरन हुई । क्या बात करूँ पिताजी से एक समय के वे नामी वकील रहे हैं । उनकी तार्किक दृष्टि के सामने कोई टिक नहीं सकता मेरी तो हिम्मत नहीं है । तुम्हीं जाकर बात क्यों नहीं कर लेती । जो कहना है कह दो, पर मुझ में साहस नहीं है । जैसे-तैसे चुप हुआ तो अंजलि कहने लगी- इतना-सा काम नहीं कर सकते फिर कैसा क्या पौरुष है तुम्हारा ? कम

से कम बात करके तो देखो। पति ने कहा ठीक है- मैं प्रयत्न करूँगा। सुबह उठा, जहाँ पिताजी का पूजा गृह था वहाँ पहुँचा।

अंजलि और पूजक दोनों नौकरी करते थे। अंजलि पहले जाती थी, पूजक बाद में। पूजक पहुँचा, पिताजी पूजा कर रहे थे। पूजा समाप्त हुई तब बोले- पूजक तुम ठीक समय पर आये, आओ बैठो। क्या बात है ? इन्हें मालूम पड़ गया क्या ? ‘बेटे सामने की आलमारी के ऊपर का दरवाजा खोलो, वह फाइल लाओ। खोलो और देखो, इसमें मकान की डीड बनी है, तुम इसके मालिक हो। इसलिए तुम्हें बता रहा हूँ कि तुम्हे सोचने समझने में सुविधा रहे। तुम्हारे नाम कर दूँगा और नीचे की आलमारी में पुस्तकें हैं, उनसे तुम्हारा मतलब नहीं। उन्हें मैं आश्रम में दे दूँगा। अब फाइल वापस आलमारी में रखकर आलमारी बंद कर दो। जाओ तुम्हे विलम्ब होगा।’’ पत्नी ने पूछा- आज कुछ बाल चली। यह खड़ाऊ की बात ठीक नहीं है। रोज खट्-खट् चलती है, पिछली रात्रि में ही वे जल्दी उठ जाते हैं। दैनिक क्रिया से निवृत्ति के बाद पूजा पाठ में लग जाते हैं। अंजलि के दिमाग में यह खट्-खट् चलती।

कुछ दिन बीते फिर कहा- पूजक जाओ। वह जाने की तैयारी में था इतने में नौकर आया, कहा- बाबूजी बुला रहे हैं। पूजक पहुँचा। पिताजी ने चाबी दी, आलमारी खुलवाई। दूसरी फाई निकलवाई। कहने लगे- इसमें पूरा बैंक बैलेन्स है- आठ लाख का। चार लाख तुम्हारे व चाहे अंजलि के नाम में है। मैं तुम्हें जानकारी के लिए बता रहा हूँ। सावधानी से रख दो और वापस आलमारी बंद करवा दी। ये बातें होती रही। पूजक ने पूछा भी पिताजी, आप अभी क्यों बता रहे हैं ? बेटे अब समय ज्यादा नहीं है। बेटे, एक बात का ध्यान रखना। जब मेरी मृत्यु हो जाय तो मेरी जनेऊ में यह चाबी रहती है उसे निकालना मत भूलना। पूजक आज भी बात चला नहीं पाया।

पत्नी से जाकर सारी बात कह दी। अंजलि ने सुना आठ लाख। अब तो जिंदगी में बहुत कुछ कर सकेंगे। अब तक नौकरी करते रहे, फिर

तो कहना ही क्या । लेकिन यह खट्-खट् मैं बर्दाश्त नहीं कर सकती । मैं दिनभर अन्य मनस्क रहती हूँ । पूजक प्लीज ! पिताजी से कह दो । क्या करता, पूजक फिर पहुँचा । पिताजी ने कहा- आओ बैठो । क्या कहना चाहते हो ? उत्तर मिला- वैसे तो कोई खास बात नहीं है, पर छोटी-सी बात निवेदन करना है । बोलो ! पिताजी आप की वृद्धावस्था है । पहले आप चप्पल पहनते थे, अब भी वह ठीक है । खड़ाऊँ छोड़ दीजिये । पिताजी ने कहा- मेरी दिक्कत जाने दो तुम्हारी नींद में दखल पड़ता है । तुम तकलीफ मत उठाओ, मैं उतार कर रख दूँगा । पूजक उठा, ऑफिस चला गया । वापस आया देखा, पिताजी खूब पूजा पाठ में लगे थे । फिर ऊपर गये और रुम में चित्त लेट गए । नौकर दौड़ता हुआ आया । पिताजी की तबीयत खराब है । पूजक भागा-भागा ऊपर आया । देखा, तबीयत नरम है । पिताजी आप क्या कर रहे हैं ? इष्ट देवता का स्मरण कर लो, गला रुधा था, होठ हिल रहे थे, आवाज नहीं निकल रही थी । डॉक्टर को बुलाया गया । नब्ज देखी । सब बेकार । इतने समय में जाने वाला चला गया था, रहने वाला पड़ा था । पूजक को याद आया- पिताजी ने कहा था जनेऊ से चाबी निकाल लेना । उसने टटोली, नहीं मिली । तो सोचा अंजलि ने निकाल ली होगी । क्रिया-कर्म हो गया । बात चली- श्राद्ध करना है, कहाँ करें ? पूजक ने कहा- इस घर में ही करेंगे । अंजलि ने कहा- घर में ही करेंगे ? घर खराब हो जायेगा । आश्रम में ही कर लें, वही भोजन हो जावेगा । धर्मशाला फिर किस काम आयेगी । घर गंदा करने के लिए थोड़ी है । धर्मशाला में किया और छुट्टी । विचार करने की बात है, जिन्होंने घर छोड़ा उन्हीं के लिए कह रहे हैं ‘घर खराब हो जायेगा । यही है अविद्या । व्यक्ति जान नहीं पाता, जाल बिछता जाता है । अविद्या कीजकड़न में स्वयं को भूल जाता है । श्राद्ध हो गया । जितनों को आमंत्रित किया गया था उनमें से कई पहुँचे, कई नहीं पहुँचे ।

एक वकील शुभेन्दु आया, पूजक के कंधे पर हाथ रखा- तबियत कैसी है ? मैं बिना कार्ड ही चला गया । आता क्यों नहीं, आपके पिताजी

से मैं जूनियर हूँ। उनके पास ही वकालात सीखी थी। ऐसे समय में कैसे नहीं आता। मुझे तुमसे कुछ बातें करनी हैं। अगले रविवार में घर पर ही मिलूँगा। अच्छा यह तो बताओ- अब आगे कहाँ जाने का विचार है ? पूजक ने कहा- मैं कुछ समझा नहीं। शुभेन्दु ने कहा- तुम्हें मकान छोड़कर कहाँ जाना है ? कहाँ निवास करोगे ? पूजक ने कहा- मकान छोड़ने की क्या आवश्यकता है, पिताजी ने तो मेरे नाम करवा दिया है। शुभेन्दु ने कहा- ऐसी बात नहीं है, यह घर अब तुम्हारा नहीं रहा। पूजक ने कहा- फाईल मेरे पास है। उत्तर मिला- नहीं बेटे, अब नहीं है। उन्होंने चाबी दी ? उसे आश्चर्य हुआ- यह पिताजी के जनेऊ में रहती थी, उसके पास कैसे ? पूजक ने आलमारी खोली। फाईल धर्मग्रन्थ सब नदारद थे। वकील सा. ने बताया धर्मग्रन्थ तो आश्रम को भेंट कर दिए गए हैं। मकान की डीड वाली फाईल मेरे ऑफिस में पड़ी है। कल ही आपके पिताजी के नाम बदलकर 8 लाख रुपये व मकान आश्रम को भेंट कर दिए हैं। पूजक के पैरों तले से जमीन खिसकने लगी। सोचा था 8 लाख रुपये मिलेंगे तो श्राद्ध में भी कुछ खर्च कर दिया था। वकील साहब ने बताया कि यह सब कैसे हुआ ? तुम्हारे पिताजी ने सोचा जब खड़ाऊ की खट्ट-खट्ट की आवाज भी ये सह नहीं पाये तो इतनी राशि और मकान इनके लिए बोझ बन जाएंगे, इसलिए मैं इन्हें तकलीफ नहीं देना चाहता। जो खट्ट-खट्ट सह पायेगा वही सम्पत्ति का मालिक बन सकेगा।

यह है अविद्या जो अनेक रूपों में उभरती है। अध्यात्म में प्रवेश करने के लिए सहिष्णु बनना होता है। पिताजी के पूजा आदि कार्यों में सहयोगी बनना चाहिए। पर हम विचार करते हैं कि ये जल्दी उठकर खट्ट-खट्ट करते हैं, हमें खट्ट-खट्ट सहन नहीं होती है। यह सहन नहीं होना अविद्या का घोतक है। मालिक बनने और सम्पत्ति की चाह तो जागी पर सेवा-सुश्रूषा, सत्कार-सम्मान का भाव हममें नहीं रहा। ऐसी स्थिति में वृद्ध पुरुष कितनी अपेक्षाएँ हमसे रखते हैं। आज व्यक्ति चाबियों को पाना चाहता है पर चाबियों को पाने की कुँजी (कला) क्या है, यह नहीं

जान पाया है। इस कुँजी या मार्ग को जिसने जान लिया वही चाबी प्राप्त कर सकता है। कवि आनन्दघनजी तो प्रार्थना करते हुए कहते हैं- अध्यात्म को पूर्ण रूप से प्राप्त करना है। किन्तु हमारे सामने समस्या है, एक संगीन परत है। किले के भीतर, राजमहल के भीतर प्रवेश से पूर्व संगीन दरवाजे हैं। पूर्व समय में ऐसे द्वार होते थे जिन्हें हाथी भी तोड़ने का प्रयत्न करे तो तोड़ नहीं पाते थे। ऐसी ही परत हमारे चिंतन के बीच में है। यदि हम उस परत को तोड़ भी दें तो आगे जाल बिछा हुआ है, जाल में उलझ जाते हैं। यदि जाल का उलंघन हो जाए तो आगे पारदर्शी आईना है जिसमें राजमहल का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति सोच लेता है कि वह अध्यात्म के राजमहल में प्रविष्ट हो चुका है, पर वस्तुतः वहाँ प्रवेश नहीं हुआ होता है। आज अध्यात्म की चर्चा करने वाले बहुत मिल जाएंगे पर अध्यात्म किस चिड़िया का नाम है इसका तो उन्हें पता ही नहीं होता। अध्यात्म की शाब्दिक चर्चा भले कर लें पर यदि उसको समझ नहीं पाये तो उपलब्धि कुछ नहीं होगी। बुद्धि समझती है मैं भीतर प्रविष्ट हो चुकी हूँ पर भीतर प्रवेश नहीं हुआ होता है। हम बाहर ही बाहर भटक रहे होते हैं। कहा भी है-

पर घर फिरत बहुत दिन बीते नाम अनेक धराये ।

कितने नाम हमने धरायें हैं उनकी सूची नहीं बना पायेंगे। बनायेंगे तो कितने ही शास्त्र, कितने ही कागज भर जायेंगे। एक नाम के पीछे तो व्यक्ति तूफान खड़ा कर देता है, पर यह नहीं सोचता कि जब उसने एक नहीं अनेक नाम छोड़ दिए तब इस नाम की चिन्ता क्यों? यह नाम भी तो नहीं रहेगा। पर अभी कोई आपका नाम लेकर कुछ अनुचित कह दे तो वहाँ तो मूछों का सवाल खड़ा हो जायेगा, बुरा लगेगा। इस एक नाम के सम्मान के पीछे कितनी दौड़-धूप होगी? लेकिन यदि अपने घर पहुँच गए तो वह ‘अनामी’ दशा बन जायेगी। सिद्धों का कोई नाम नहीं है। पूर्व पर्याय से हम भले नाम ले लें, यहाँ के किसी आधार से सम्बोधित कर दें, पर वहाँ कोई भेद नहीं है, कोई अंतर नहीं है। अब तक हमने इन

संगीन दीवारों को नहीं जाना । आत्मा में प्रवेश से पूर्व सबसे पहले यह काया ही संगीन दीवार है । राजमहल में प्रवेश से पहले इसे तोड़ना होगा । हृदय बहुत भीतर है । उसके ऊपर हड्डियों का आवरण है । ये हड्डियाँ भी कितनी कठोर हैं । यदि उनका भेदन करके आगे बढ़े तो आगे जाल बिछा हुआ है । वह जाल है भाषा का, वचनों का । व्यक्ति उसमें उलझ जाता है तो आगे जाना भूल जाता है । यदि किसी प्रकार आगे बढ़ भी गया तो फिर आगे मन रूपी पारदर्शी शीशा है । जैसे आज व्यक्ति भीतर से ही देखकर जान लेता है कि बाहर कौन है, उसी प्रकार मन रूपी काँच की दीवार पर प्रतिबिम्ब पड़ता है और व्यक्ति सोचता है मैंने अध्यात्म में प्रवेश पा लिया है । कवि कह रहा है यह तो बच्चों का खेल था पर वास्तव में वह अध्यात्म नहीं है । अध्यात्म को पाने के लिए उस पारदर्शी काँच को तोड़ना होगा । सोचना होगा भीतर प्रवेश कैसे होगा ? यदि वह रहस्य प्राप्त कर लिया फिर धीरे-धीरे अंदर बढ़ते चले गये तो वह अध्यात्म प्राप्त होगा । जैसे काँच को काटने के लिए हीरे की छोटी-सी कलम होती है वैसे ही श्रेय का अंश उस पारदर्शी काँच को काटने में समर्थ है । यदि उस श्रेय के अंश को प्राप्त नहीं किया तो उस दीवार को नहीं काट पायेंगे और आत्मा में अवस्थान नहीं हो पायेगा । मन के काँच का भेदन करने पर हम आत्मा में प्रविष्ट होंगे, परन्तु यह कला प्राप्त हो सकती है तीर्थकरों की उपासना, आराधना एवं स्तुति से ।

प्रश्न किया गया-भगवन् ! स्तुति से क्या लाभ होता है ? भगवन् ने कहा- स्तुति करने से ज्ञान, दर्शन, चारित्र की बोधि प्राप्त होती है । वह बोधि पारदर्शी काँच को काटने में समर्थ है । आध्यात्मिक चिंतामणि को तजकर, पारदर्शी काँच की ओर आकर्षित नहीं होना चाहिए । गंधहस्ती को छोड़ गधे की सवारी कौन करे ? आम को छोड़कर इमली और कल्पवृक्ष को छोड़कर खेजड़ी का आश्रय कोई नहीं चाहता है, क्योंकि खेजड़ी का फैलाव नहीं होता । वहाँ तो एक व्यक्ति को भी पर्याप्त छाया उपलब्ध नहीं हो सकती । यदि कोई वटवृक्ष को छोड़ खेजड़ी के आश्रय

को ग्रहण करे तो उसे मूर्ख ही कहा जायेगा। एक ओर सिंह है और दूसरी ओर गीदड़, बताईये कौन श्रेयस्कर है? यदि अपना सम्मान रखना है तो व्यक्ति सिंह का स्वरूप ही चाहेगा। एक ओर चावल है दूसरी ओर भूसा, आप क्या ग्रहण करेंगे? उत्तराध्ययन (1/5) में कहा गया है-

कण कुंडगं चइत्ताणं, विट्ठं भुंजइ सूयरो

एक महारानी ने भंडसूरी के बच्चों को महलों में बुलाया। निश्चय किया इन बच्चों का जीवन मोड़ना है। उन्हें प्रतिदिन महल में ऐसे बासमती चावल खिलाये जाते जैसे दूसरों को शायद देखने को भी न मिलें, उन्हें सोने-चाँदी के थाल में भरकर चावल खिलाये जाते। एक दिन ऐसा हुआ कि एक तरफ तो कुंडे भर चावल पड़े थे दूसरी ओर राजकुमार ने अशुचि कर दी। वह भंडसूरी का बच्चा कुंडे को छोड़कर विष्ठा की ओर लपका। सांसारिक प्राणी भी ऐसा ही नादान है। भ्रष्ट संस्कार है जो अध्यात्म को छोड़कर विष्ठावत् सांसारिक उपभोगों के प्रति आकर्षित होता है। परन्तु जो बुद्धिमान है वह तो अध्यात्म की ओर ही आकर्षित होगा। उसकी धर्म के प्रति, अध्यात्म के प्रति गहरी निष्ठा होगी-

जीवो छे तो धर्मना काजे, मरवू छे तो धर्म ना काजे।

धर्म के खातिर ही जीना और मरना है ऐसी प्रगाढ़ श्रद्धा पैदा होगी तो हमारे भीतर अनिर्वचनीय शक्ति का स्रोत प्रादुर्भूत होगा। श्रावक के लिए कहा गया है- देव, गुरु और धर्म के प्रति अविचल आस्था और श्रद्धा रखकर वह गति करे तो वह आध्यात्मिक महल की दीवारों, जालों और भ्रमों का उच्छेद करके भव्य महल में प्रविष्ट हो सकेगा और आस्था को अविचल रखकर वह आगे बढ़ेगा तो वह पूर्ण आध्यात्मिकता को प्राप्त कर पायेगा।



अध्यात्म-रमणता का आनंद

श्री श्रेयांस जिन अंतरयामी आत्मरामी नामी रे ।
अध्यात्म मत पूरण णामी, सहज मुक्ति गति गामी रे ॥

कहा गया है- ‘सयल संसारी इन्द्रियरामी’ अर्थात् सकल संसारी इन्द्रियरामी हैं। इन्द्रिय पौद्गलिक संरचना है और जो इस पौद्गलिक संरचना में ही आनंद मान रहा है या यों कह दें इन इन्द्रिय विषयों से जो प्राप्त हो रहा है उसी में आसक्त रहता है, उसे ज्ञानीजन संसारी कहते हैं। आध्यात्मिक जीवन का रस उसे नहीं मिला होता है। इन्द्रियों के भी दो विभाग हैं, पहला ज्ञान का, दूसरा कर्म का। ये पौद्गलिक इन्द्रियाँ ज्ञान में भी सहयोगी बनती हैं। जिस समय से ज्ञान में सहयोगी बन रही होती है वह क्षण अध्यात्म का होता है। परन्तु सामान्यतः मनुष्य इन्द्रिय विषयों को ही ग्रहण करता है। जब तक व्यक्ति उन विषयों में लिप्त रहता है, वह अध्यात्म में आगे नहीं बढ़ पाता। परन्तु श्रद्धा के बल पर वह आगे बढ़ सकता है। इस दृष्टि से उसके सामने भगवान के कानों में कील ठोकने की तथा गजसुकुमाल मुनि के सिर पर अंगारे रखने जैसी बातें आती हैं। पर आज के वैज्ञानिक तर्कशील है, वे शोध करते हैं। शोध में सत्य निकलने पर ही वे उसे ग्रहण करने के लिए तत्पर होते हैं अन्यथा ग्रहण नहीं करते। व्यक्ति बैठा है, मच्छर काटे तो सहसा हाथ पहुँच जायेगा खुजाल करने। मच्छर नहीं भी काटे, फिर भी उसे वहम हो कि मच्छर बैठा है तो भी वह उसी समय खुजाल के लिए तत्पर हो जाता है। कभी खोज की कि ऐसा क्यों होता है ?

एक बैलगाड़ी जा रही है जिसमें चार व्यक्ति सवार हैं। इनमें से तीन व्यक्ति शराब पिये हुए हैं और एक व्यक्ति अपनी सहज अवस्था में हैं। मार्ग में जाते हुए अचानक बैलगाड़ी ने पलटा खाया, दुर्घटा हो गयी, सभी सवार नीचे गिर पड़े। देखा गया- उस सहज अवस्था वाले व्यक्ति को चोट आई हड्डी क्रेक हो गई, पर शराबी तो अपनी मस्ती में थे उन्हें कहीं भी चोट नहीं आई थी। होना तो ये चाहिये था कि शराब के नशे के कारण वे अपनी सुध-बुध में नहीं थे अतः उन्हें ज्यादा चोट लगती, पर लगी नहीं। हम साचेंगे उनका बचाव कैसे हुआ ? यदि तह में पहुँचें तो ज्ञात होगा कि शराबी उस समय अपनी चेतना में उपस्थित नहीं थे। जब तक व्यक्ति कहीं जुङता नहीं है, उसे वेदना नहीं होती। आपने अनुभव किया होगा, घर में बच्चे दौड़ रहे हैं, खेल-खेल में यदि वे गिर जायें तो फिर उठकर दौड़ने लगते हैं। परन्तु यदि आपने उन्हें गिरते देख लिया तो चोट लगी हो या नहीं वे रोने लगेंगे। अपने को जोड़ा तो पीड़ा की अनुभूति हुई, नहीं तो खेलते-खेलते दिनभर में न जाने कितनी बार गिर पड़ते हैं पर वेदना का अहसास जुङने पर ही होता है।

भगवान महावीर और गजसुकुमाल मुनि ने स्वयं को इस जुड़ाव से भिन्न कर लिया था। उन्हें यह भेद-विज्ञान हो गया था कि शरीर अलग है और आत्मा अलग है। यह भेद-विज्ञान हो जाने के बाद शरीर पर कुछ भी घटित हो पर चेतना का सहयोग नहीं होने से उसे पीड़ा नहीं होगी।

एक ब्रह्मयोगी थे, जिनमें एक विशेषता थी। जहर को जीभ पर रखें तो व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है। पर वे योगी जहर को 30 मिनट तक जीभ पर रख लेते पर उनका कुछ भी नहीं बिगड़ता था और उसके पश्चात् वे उस जहर को पेशाब के माध्यम से बाहर निकाल देते थे। कहा जाता है कि शिव ने जहर पिया और उसे कंठ में ही रोक लिया तो वे नीलकंठ बन गए। कंठ में रोक लिया तो मृत्यु नहीं हुई। उसका भी कारण है। मीरांबाई ने जहर पिया पर उसका उन पर कोई असर नहीं हुआ, क्योंकि उन्होंने स्वयं को अनुपस्थित कर लिया था।

दो यात्री यात्रा करते हुए जा रहे थे। मार्ग में एक जगह रुके। एक मांजी के घर आश्रय मांगा। रात्रि-विश्राम के पश्चात् वे जाने लगे तो मांजी ने कहा- अरे बेटों ! ऐसे कैसे जा रहे हो ? खाली पेट नहीं जाने दूँगी। यात्रियों ने कहा- मांजी ! अभी रात्रि है, तैयारी करना ठीक नहीं। मांजी ने कहा- नहीं बेटों मैंने छाछ बिलो ली है और कुछ नहीं तो कम से कम छाछ तो पीते जाओ। मांजी का आग्रह होने से उन्होंने छाछ पीली और रखाना हो गए।

बाहर वर्ष पश्चात् पुनः लौटे तो फिर उसी घर में रुके। बुढ़िया तो उन्हें पहचान नहीं पाई परन्तु उन्होंने मांजी को पहचान लिया और बोले मांजी हमें पहचाना या नहीं। मांजी ने कहा- नहीं पहचाना। मांजी बारह वर्ष पहले हम आये थे। जाते समय तुमने छाछ पिलाई थी। आज लौटकर आए है। मांजी ने कहा- अरे ! तुम सकुशल हो ? मैं तो सोच रही थी कि मुझे हत्या का पाप लगेगा। उन्होंने पूछा- क्यों मांजी, क्या हुआ ? उत्तर मिला। बेटे ! उस रात्रि में मैंने छाछ बिलोई थी। सुबह देखा तो छाछ हरी-नीली दिखाई दी। मैंने देखा उस छाछ में एक सर्प भी बिलो लिया था और उसका कलेवर भी उसमें मिल गया था। मुझे विचार हुआ ओ हो.. वे अतिथि जीवित नहीं रहे होंगे। मैं अफसोस करने लग गई थी। बेटे तुम बच गए यह जानकर मुझे बहुत प्रसन्नता हो रही है। किन्तु बच कहाँ गए ? ज्योंहीं जहरीले सर्प की बात सुनी वे नीचे गिरे, प्राण पखेर उड़ गये।

इस दृष्टांत को प्रस्तुत करते हुए ज्ञानीजनों ने कहा है- पूर्व की घटनाओं का तथा जिन काम-भोगों का एवं इन्द्रिय विषयों को आधार पर हो सकता है कि तुम साधु जीवन से विचलित हो जाओ। वे काम-भोग, विषय वासनाओं, नृत्य-गीत के स्वर कानों में गूँजने लगें, संसार के वे चित्र, टी.वी. चित्रों की भाँति उभरने लगें और तुम्हारा मन विचलित हो जाये, अतः पूर्व भुक्त का स्मरण नहीं करना, उससे भेद रखना चाहिये। यदि जुड़ोगे तो चित्तवृत्तियों में उस प्रकार के भाव उभरेंगे। उभरने के

साथ ही मानस चंचल होगा, पैर थिरकने लगेंगे, होंठ गुनगुनाने लगेंगे। इस प्रकार विषय वासना की मानसिकता पूर्णतः हावी हो जायेगी। बात बहुत छोटी लगती है पर महत्वपूर्ण इसलिए कहा गया है कि साधु को संयमित अवस्था ही ग्रहण करनी चाहिये। अन्यथा एक बार यदि संकल्प में शिथिलता आई तो वह पुनः पुनः कचोटेगी द्वार खट-खटायेगी। पुनः साधक शिथिल होगा और उसकी दशा इन्द्रियरामी हो जावेगी और आलोद्वार की दिशा में उसकी दिशा में उसकी गति बाधित हो जायेगी।

कहा गया है- सयल संसारी इन्द्रियरामी, मुनिगम आत्मरामी रे। मुनि कौन ? वह जिसने भेद-विज्ञान को जान लिया। इस संदर्भ में पूज्य गुरुदेव जोधपुर के पास के तिवरी गाँव के पीरदानजी से संबंधित वृत्तांत सुनाया करते थे। पीरदानजी की दीक्षा की भावना थी पर वृद्धा माता कहने लगी- पीर मैं अनुमति नहीं दे सकती। तुम्हारा ही आधार है, कैसे आज्ञा दूँ ? पीरदानजी कर्तव्यभाव से घर पर रहने लगे। उन्होने एक प्रतिज्ञा ग्रहण कर ली कि मैं हाथ से लेकर भोजन नहीं करूँगा। अतः जो कुछ परोसा जाता समझाव से खा लेते, नुकताचीनी नहीं करते।

एक दिन वे दुकान से लाये, पत्नी बाहर गई हुई थी, माता बैठी थी! माँ की आँखों की रोशनी कमजोर थी। माता ने कहा- बेटा आ गया, तो स्वयं परोस कर जीम ले। पीरदानजी ने कहा- माँ मेरी प्रतिज्ञा तुम जानती हो मैं अभी जा रहा हूँ फिर जैसा अवसर होगा आ जाऊँगा। माता जानती थी एक बार जाने के बाद पता नहीं वह कब आ पाएगा। माँ उठी, गई चौके में और एक बड़ी हाँड़ी थी, आजकल तो बर्तन प्रयोग में आते हैं पर उस समय मिट्टी की हँडिया काम में लेते थे। माता ने लकड़ी का चाटु (चम्मच) उठाया और हिलाकर थाली में भोजन परोस दिया। वे चुप-चाप भोजन करके रवाना हो गए। थोड़ी देर बाद पत्नी आई, रसोई में देखा भोजन ज्यों का त्यों रखा था तो सासूजी से पूछा- वे आये नहीं क्या ? माता ने कहा- आया था, मैंने परोसा दिया। उसने देखा जो खींचड़ा बनाया था वह तो पूरा पड़ा था। उसने दूसरी हाँड़ी में देखा जिसमें पशुओं

के लिए बांटा (ग्वार) रांधा गया था। माता ने वही परोस दिया। माता को बहुत दुःख हुआ। हाँ- मुझे तो मातूम नहीं था, पीरु तू ही बोल देता। उन्होंने कहा- माँ पशु में भी आत्मा है। मुझे तो पेट को भाड़ा ही चुकाना था।

सुनने में तो ये बातें सरल लगती हैं पर कठिन हैं जब आचरण में आ जाये। साग में नमक कम हो गया तो आप ऊपर से वचनों का कितना नमक धाव पर छिड़क दोगे ? नमक की ही बात नहीं है, यदि घर पर मेहमान आ गये और आपके मन के अनुकूल कार्य नहीं हुआ बल्कि कोई जली हुई चीज परोसेन में आ गई तो क्या आप का पारा नहीं चढ़ेगा। इस स्थिति में आप यही निर्णय कर लेंगे कि बड़ी फूहड़ है, पाँच के बीच मेरी पोजीशन खराब कर दी। लेकिन व्यक्ति यदि पूर्णतया अध्यात्म में रम जाये, फिर ऐसी चिन्ता नहीं रहे। कवि वही बात कह रहे हैं कि रोगी को फिर चिन्ता नहीं रहती की दुनिया क्या कहती है। दुनिया भले पागल कह दे, पर कहने से क्या बनता बिगड़ता है। कोई कह दे करोड़पति हो जाओ तो क्या हो जाओगे ? होते नहीं हैं परन्तु प्रतिक्रिया ऐसी दिखाते हैं। क्योंकि अविद्या के बीज मन में यत्रा-तत्र बिखरे हुए हैं। सिंचन मिलते ही वे पौधों के रूप में पनपने लगते हैं। समझ लीजिये कि यदि अहं का विष वृक्ष सींचते रहे तो वह फैलेगा ही।

दो भाईयों में वर्षों से झगड़ा चल रहा था। झगड़ा और कुछ नहीं 2-4 फीट जमीन को लेकर था। वैसे तो व्यक्ति कहेगा मेरा भाई है। यदि उसमें दीक्षा के भाव उत्पन्न हो जायें तो कहेंगे भाई को आज्ञा कैसे दूँ। पर यह नहीं सोचेंगे कि घर में रहते हुए भाई को कितना आदर दिया। पर दीक्षा का नाम आया तो अङ्गन डालने के लिए खड़े हो जावेंगे। अभी तो परिवार का पालन करो, दीक्षा कैसे लोगे ? उन भाईयों में झगड़ा बढ़ा। आपस मे बातचीत बन्द हो गई और बात न्यायालय में पहुँच गई। व्यक्ति जब नशे में होता है तब उसे भान नहीं रहता। एक बार भंग पी ली तो लहरें लेता ही रहेगा। कोर्ट में बात चली गई तो फिर चाहे पीढ़ियाँ

बीत जायें पर फाईल ऊपर नहीं आती। बाप के बाद बेटा और बेटे के बाद पोते का नम्बर भी आ गया पर केस निपटा नहीं। कचहरी जाना पसन्द है, पर समझौता पसन्द नहीं करेंगे। संयोग से एक दिन घर में बच्चों की आपस में टकराहट हो गई। दो प्लेटों में पपीते के टुकड़े रखे थे। एक बच्चे ने अपनी प्लेट के सारे टुकड़े गट कर लिए और दूसरी प्लेट की ओर भी हाथ बढ़ा दिया। छोटे बच्चे ने कहा- मेरे हिस्से के क्यों लेते हो ? बात बढ़ी और मारपीट भी हो गई। जैसे ही पिता ने देखा, कहने लगे- क्या हो गया ? छोटे बालक ने कहा- मेरा हिस्सा मुझे मिलना चाहिए। पिता ने समझाया बेटे लड़ाई से क्या होना है ? उसने खा लिया तो दूसरा लायेंगे। बच्चे कहने लगे- पापा आप हमें तो समझा रहे हैं पर आप भाई-भाई झगड़ा क्यों करते हैं। 2-4 फीट जमीन हमारे पपीते की तरह तो है। यह है इन्द्रियरामी अवस्था। अविद्या के बीज ही झगड़े का कारण थे। इसलिए प्रभु महावीर कहते हैं-

“जावंतऽविज्ञा पुरिसा”

अविद्या से ही सारे दुःख संभव होते हैं। अनंत बार वह संसार में डुबाती है, जन्म-मरण के चक्र में प्राणी धूमता रहता है। शास्त्रकार ने उन्हें- ‘लुप्पंति बहुसो मूढ़ा’ मूढ़ कहा है, गहरी चोट की है ताकि कोई जगे, पर आज व्यक्ति इतनी बेहोशी में है कि वह जागता ही नहीं। सतों का काम है सुनाना, पर क्या सुनने वालों का कोई काम नहीं है ? संत जगाने आये हैं-

उठ जाग रे चेतन, निंदिया उड़ाले मोह राम की।
कौन कहाँ से आया है तू जाना कौन मुकाम ?
कि संबंधों में उलझा है, सोच जरा नादान रे ॥

मोह-राग की नींद उड़ाना है क्योंकि ये अविद्या के पोषक तत्व है। इन्हें दूर कर दिया तो फिर इन्द्रियरामी अवस्था भी नहीं रहेगी। तब अध्यात्म में गतिशील होंगे तथा अध्यात्म पथ पर बढ़ते हुए एक दिन

पूर्णता को प्राप्त करने में सक्षम होंगे। मैं जिन ब्रह्मयोगी की बात कह रहा था वे 30 मिनट तक जीभ पर जहर रख देते थे। एक दिन उन्होंने 30 मिनट की जगह 35 मिनट रख लिया, उसी क्षण उनकी मृत्यु हो गई। क्योंकि वे ज्यादा से ज्यादा 30 मिनट ही देह-भाव से मुक्त रह सकते थे। प्रभु महावीर ने इसीलिए कहा है- ‘समय गोयम मा पमायए’।

गौमत ! क्षण भर भी प्रमाद मत कर। एक क्षण भी इन्द्रियरामी अवस्था आ गई तो वह अध्यात्म की हत्या करने वाली होगी। एक मौका ही बहुत से सद्गुणों को नष्ट कर देगा। हम जानते हैं कि जातिवान वृक्षों को बढ़ने में समय लगता है, पर धास-फूस को थोड़ा-सा भी पानी मिला तो वह झट अपना फैलाव कर देती है। जातिवान वृक्षों को वर्षों तक सींचना पड़ता है। कहते हैं आम बाते हैं तो 12 वर्षों का समय फल लगने में लगता है, जबकि बाजरी 90 रातों में और जवारी 60 रातों में तैयार हो जाती है। इसी प्रकार हमारे भीतर आत्म-संस्कारों के बढ़ने में समय लगता है और कहीं एक बार भी इन्द्रियरामी अवस्था में चले गये तो वे संस्कार बहुत नीचे चले जाते हैं।

इसी प्रकार प्रमाद के संस्कार अध्यात्म को ढँकने वाले होते हैं। अविद्या के ये विष वृक्ष जीवन रस का शोषण करने वाले हैं अतः हमें संकल्प करना है कि इन्द्रियरामी अवस्था में न जाकर अध्यात्म-रमणता को प्राप्त करना है। आत्मा उसे कैसे प्राप्त करे वह चिंतन करना है। हमारी आत्मा या चैतन्य देव का सुमति रूपी प्रज्ञा के प्रति अडिग आस्था-भाव व समर्पण भाव पैदा हो, वह ‘अप्याणं शरणं गच्छामि’ अर्थात् आत्मा की शरण ग्रहण करे यही हमारा लक्ष्य रहे। आत्मा ही देव है, गुरु है, धर्म है। पर कब ? जब आत्मा उस अवस्था में पहुँच जाये। देव-गुरु धर्म के प्रति अविचल आस्था से हम आत्मा को वर पायेंगे। संकल्प करें कि भले ही संकट भी आये पर हमें उत्तीर्ण होना है। जिसने वर्ष भर ठोस अध्ययन कर लिया वह पेपर चाहे कितना भी कठिन हो, घबरता नहीं है। मन की दृढ़ता और मन, वचन, काया की अविचल

समर्पण से हर सफलता प्राप्त होती है और संकट हम पर हावी नहीं हो पाते। अविद्या के पौधे को उखाड़ फैंके तो हम अध्यात्म की शीतल छाया में सत्-चित्-आनंदमय स्वरूप में सदा-सदा के लिए निमग्न हो जावेंगे।

दि. 18.10.96



हम आत्मरामी बनें

श्री श्रेयांस जिन अंतरयामी आत्मरामी नामी रे ।
अध्यात्म मत पूरण णामी, सहज मुक्ति गति गामी रे ॥

श्रेयांसनाथ भगवान की महिमा अपार है, उनकी प्रार्थना श्रेय मार्ग की दिशा में गति कराने वाली है और जब श्रेय मार्ग में गति का प्रसंग बनता है जब सहज की आत्मरामी अवस्था प्राप्त होती है। परन्तु सामान्यतः व्यक्ति इन्द्रियरामी अवस्थाओं में ही गति करता रहता है और अपना वर्तमान व भविष्य दोनों बिगड़ लेता है। तब समझें कि इन्द्रियरामी और आत्मरामी अवस्थाओं का स्वरूप क्या है ? आत्मरामी अवस्था आत्मा की दिशा में और इन्द्रियरामी अवस्था पौद्गलिक भावों में बढ़ना है। पर दूसरे दृष्टिकोण से चिन्तन करें तो एक और बात सामने आती है जो अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। तीर्थकर देव ने जो स्वरूप अभिव्यक्त किया है, वह है कि राग-द्वेष की अवस्थाओं से हटकर एकान्त में वास करें। पुराने युग में ऋषि-मुनि, महात्मा आदि वनों में तपस्या हेतु वास करते थे। तीर्थकर भगवान के लिए अनेक आख्यानों में उल्लेख है कि नगर के बाहर उद्यान में ठहरे। क्या उन्हें नगर के भीतर मकान नहीं मिलता था ? क्या मकानों की कमी थी ? उस समय भी हवेलियाँ, मकान थे, आवासों की कमी नहीं थी फिर भी उनका नगर के बाहर वास करना बहुत अर्थ रखता है। साधना के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अवस्था कैसी हो यह ध्यान रखना भी आवश्यक होता है ? बड़े नगरों में अपराध वृत्ति विशेष पनपती है। नगर जितना ज्यादा बड़ा होगा अपराध उतने ही

ज्यादा पनपेंगे। गाँवा में इतने अपराध नहीं होते। ऐसा क्यों होता है ? यदि इस पर विचार करें तो यह तथ्य प्रकट होगा कि जहाँ जितनी ज्यादा भीड़ होगी, जितना जमाव होगा, मनुष्यों का गहन आवास होगा, वहाँ मनुष्य का मानस कुछ अलग ढंग का होगा। विचार कीजिये कि लोग पुराने शहरों में रहना ज्यादा पसन्द करते हैं या कॉलोनी में रहना ? यह पसंद उनकी मानसिकता को प्रकट करती है। इसका कारण है, जहाँ मनुष्य रहता है वहाँ उसकी विचार तरंगें भी विकीर्ण हो जाती हैं। तीर्थकरों ने भी कहा है- जैसे विचार होंगे, वैसे ही मनोवर्गणा के पुद्गलों का प्रभाव सामने वाले पर तथा दूसरों पर भी होगा।

मनोविज्ञान भी इस तथ्य को स्वीकार करता है कि व्यक्ति के आवास स्थल एवं आस-पास के पर्यावरण का प्रभाव उसके विचारों एवं अध्यवसायों पर पड़ता है तथा उसका व्यवहार इन्हें ही प्रतिबिम्ब करता है। इस प्रकार पशु, व्यक्ति या वनस्पति कोई भी क्यों न हो वातावरण का प्रभाव सभी पर पड़ता है। साधक के लिए प्रभु ने कहा है कि जब वह जंगल से निकले विहार करता हुआ तो मन में ऐसे विचार न लाये, न ऐसी भाषा का ही प्रयोग करे कि वह वृक्ष मोटा है इसे काट दिया जाये तो अच्छे तखते, पाटे बन सकते हैं। क्योंकि उसके भाव प्रतिबिम्बित होकर वृक्ष तक पहुँचते हैं और उसे पीड़ा पहुँचाते हैं। पहले तो जो कह दिया था वह व्यक्ति मान लेते थे, निर्गन्ध ने जो कहा वही अर्थ है, शेष अनर्थ है। भगवान ने कहा है- ‘निर्गन्धं पावयणं सच्चं’ पर आज तर्क होगा- ऐसा क्यों नहीं बोलना अथवा सोचना चाहिये, वृक्ष क्या समझता है ?

पर जहाँ रोग है वहाँ निदान भी है। तर्क उपजे तो खोज भी की गई। खोज करते हुए वैज्ञानिकों ने पता लगाया कि वनस्पति में भी संवेदन क्षमता होती है। व्यक्ति की भावधारा का असर उस पर भी पड़ता है। डॉ. वेकटसन एवं जगदीशचन्द्र बसु ने भी प्रयोग किये। वेंकटसन ने तो यहाँ प्रमाणित किया कि यदि वनस्पति के सामने जाकर गाली-गलौज

करे तो कुछ पौधे कुम्हला जाते हैं। यह सारी प्रक्रिया यंत्रों के माध्यम से देखी जा सकती है। अब कहा- बोलना नहीं है, केवल मन में संकल्प करें कि इस पौधे को तोड़ दिया जाये....तोड़ दिया जाये...तोड़ दिया जाये....। मन के भावों से वह पौधा कुम्हला गया। तीर्थकरों ने कितनी गहरी बातें कही हैं, पर हमने शोध नहीं किया। विज्ञान ने शोध की तो पता लगाया कि बड़े शहरों में अपराध वृत्ति अधिक क्यों पनपती है ? बड़े शहरों में जितने मामले सामने आते हैं उतने छोटे गाँवों में नहीं आते। छोटे गाँवों के मामले ऊपर जाते भी हैं तो वकीलों के कुचक्र के कारण अन्यथा अपनी समस्याएँ गाँव वाले स्वयं निपटा लेते हैं। आपराधिक वृत्तियाँ पनपती हैं। वहीं, जहाँ मनुष्यों का अधिक जमाव हो, उनका कोई संगठन बने और तभी विचार तरंगे भी पनपती हैं। जब भीड़ इकट्ठी होती है तब कुछ लोगों की समझदारी चलती नहीं। भीड़ का अलग मनोविज्ञान होता है। भीड़ में उन्माद बहुत जल्दी फैलता है और किसी भी क्रिया की त्वरित और व्यापक प्रतिक्रिया होती है। अकेला व्यक्ति सामान्यतः सहज ही विवेक को नहीं छोड़ता, वह दुस्साहस करने से भी बचता है। कहावत भी है कि अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। इन्द्रियरामी अवस्था ही अपराध पैदा करती है। साधना के लिए भीड़ नहीं चाहिये इसलिये जंगल का क्षेत्र चुना जाता है। जहाँ विचारों में निर्मलता बनी रहती है। आप अकेले रहेंगे तो अपराध भाव जागृत नहीं होंगे और वायुमण्डल की शुद्ध रहेगा। परिवेश दूषित वहीं होगा जहाँ बस्ती बनी होगी। हम स्वयं अनुभव करते हैं कि खुले क्षेत्र में शांति की अनुभूति होती है। हम बगीचे में जाते हैं तो विचारों में पवित्रता आती है क्योंकि वहाँ प्रकृति का सानिन्ध्य प्राप्त होता है। साधना के लिए प्रवेश करना है तो अकेले को गति करनी होगी। कहा भी गया है-

सिंहो के लंहड़े नहीं, हंसो की नहिं पाँत ।

लालो की नहिं बोरियाँ साधु न चले जमाता ॥

साधना के लिये नहीं, विभावों के लिए ही सहयोगी की अपेक्षा

होगी। इन्द्रियरामी जो इन्द्रियाँ हैं वे समूह रूप हैं पाँच है, इसीलिये अपराध में तत्पर होने की उनकी प्रवृत्ति होती है। उनके साथ मन का सहयोग भी मिला तो अनेक का जमाव हो जाता है। इस प्रकार गुप्त बनता है और आगे बढ़ने की तैयारी होती है। अपराध ग्रुपिंग में पनपते हैं। इन्द्रियरामी अवस्था में समूह का सहयोग होता है। शहरों के बारे में एक रिपोर्ट में उल्लेख था कि दस में से नौ अपराध इसलिए हुए थे क्योंकि उन्हें वैसे ही सहयोग मिल गये थे। अधिकांशतया ग्रुपिंग में दुष्प्रवृत्तियों में लीन होने के कारण उपराध पनपते हैं। हमें पता है कि ठगों, चोरों, अपराधियों आदि के अपने सुदृढ़ संगठन होते हैं। सज्जन को संगठन बनाने की आवश्यकता ही नहीं होती। व्यसन अकेले प्रारंभ नहीं होते। दोस्तों का योग मिला, कहने लगे- एक सिगरेट पीकर तो देख। दो-चार बार तो उन्होंने पिला दी फिर धीरे-धीरे मन स्वयं प्रवृत्त होने लगा और व्यसन विकसित हो गया। क्या जुआ अकेले खेला जा सकता है ? आप जानते हैं कि यदि जुआ खेलने वाले को उत्साह बढ़ाने वाला मिल जाये तो वह बढ़ता ही जाता है।

सुना है कि उदयपुर के महाराणा जब शिकार खेलने जाते तो अनेक भील भी उनके साथ जोश बढ़ाने जाते थे। वे कहते देखो-देखो वे जा रहे हैं और महाराणा शिकार कर देते। इसलिए कहा गया है कि ऐसे कार्यों में अनेक लोगों के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार अनेकत्व साधना में बाधक बनता है। प्रभु ने कहा है- साधना के लिए अनेक से एक में प्रवेश करो। इन्द्रियरामी अनेक में होगा, आत्मरामी को अनेक में से एक में प्रवेश करना होगा। एक में प्रवेश कर गये तो वहाँ से श्रेय मार्ग प्रारंभ हो जायेगा, पर यह प्रारंभ तब हो जब हम श्रेय मार्ग को समझते हों।

एक निपुण कलाकार ने एक चित्र बनाया। उसमें रंग का भराव इतना सुंदर था कि देखने वाला मुग्ध हो जाये। इतना सजीव चित्र था। लोग देखकर हर्ष विभोर हो जाते। एक बार उसने अनोखी कलाकारी से

एक भवन का चित्र बनाया। उसमें रंगों का सुन्दर मिश्रण था। उस चित्र को प्रदर्शनी में रखा गया। चित्र की प्रशंसा सुनकर लोग आने लगे। जो भी चित्र देखता वह देर तक उसकी प्रशंसा करता रहता। एक कलाविद् भी पहुँचा। उसने देखा वास्तव में भवन का बहुत ही सुन्दर चित्र बनाया था। उसे भी मन को मोहने वाला लगा। उस भवन के द्वार पर एक देवोपम पुरुष का चित्र दर्शाया गया था, जो उस द्वार पर थपकी लगा रहा था। दरवजा बंद था अतः वे थपकी लगाते हुए बाहर खड़े थे। वह मुग्ध हो गया- यह तो भव्य चित्र है! सहसा उस चित्र में एक त्रुटि दिखाई दी जो उसे अखर गई। उसने कहा- भवन तो अत्यंत सुन्दर है पर इसमें एक त्रुटि है। एक कमी रह गई है। पूछने पर उस कलाविद् ने कहा- इसमें दरवाजा है और सबकुछ है, पर द्वार पर हत्था नहीं है तो उसे खोला कैसे जावेगा ? चित्र बनाने वाले कलाकार ने कहा- यही तो इस चित्र की रमणीयता है। यदि इसमें हत्था लगा दिया तो यह चित्र दो पैसे का हो जावेगा। इसकी कीमत हत्था नहीं होने से ही है। फिर टिप्पणीकर्ता को असमंजस में देखकर चित्र बनाने वाले ने कहा- भाई साहब यह भवन है ‘मनुष्य के हृदय का’ जिसका द्वार बाहर नहीं भीतर खुलता है। परमात्मा भी कितनी ही थपकी दे पर खोल नहीं पायेंगे। कितनी गंभीर बात है। हृदय का द्वार बाहर से कोई खोल नहीं सकता। वह तो अन्दर से अर्थात् अन्तःप्रेरणा से ही खुलता है। हृदय रूपी घर में प्रवेश कैसे हो सकता है ? कहते हैं- हृदय भवन में कुटिलता का भी वास होता है। उस भवन की पहले चमड़े की दीवार है, फिर हड्डियों का वेष्टन है, जिसके कारण वह कुटिलता छिपी रहती है और अपने अहं रूप अनुचरों का भेज देती है। वह स्वयं तो गहरे में बैठी रहती है और दरवाजा भी बंद रखती है फिर भीतर प्रवेश कैसे हो? दरवाजे पर इस प्रकार बैठी है कि ‘जावंतऽविज्ञा पुरिसा’ वह अविद्या खोलने नहीं देती। उसी हृदय में परमात्मा का वास होता है। पर जब तक अविद्या का दायरा फैला हुआ है और छल-प्रपंच में चेतना उलझी हुई तब तक भीतर से द्वार नहीं खुल पायेगा। अतः परमात्मा का प्रवेश भी नहीं हो पायेगा। आत्मा की अपने ऊपर रही

अविद्या की छाया जब दूर हटेगी तब ही वह द्वार भी खोल सकेगी । इसके लिए स्वयं आत्मा को कोई पहल करनी होगी । वहाँ कोई सहयोगी साथी नहीं होगा । तब यदि वह स्वयं जान ले कि प्रवेश कैसे करना है तब ही वह द्वार खोल पायेगी । परन्तु जब तक सयल संसारी इन्द्रियरामी हैं तब तक ऐसा कैसे होगा ?

श्रेयांसनाथ भगवान की प्रार्थना करते हुए कवि ने कहा है कि जब तक इन्द्रियरामी अवस्था में आत्मा उलझा है, अपराध वृत्तियों के चक्कर में राजा पड़ा उनका दास बना हुआ है और निरन्तर उन्हीं की ओर प्रेरित हो रहा है तब तक उद्धार का कोई रास्ता नहीं । यदि हम अन्तररामी अवस्था की ओर बढ़ें तो वह अध्यात्म की दिशा में गति होगी । अध्यात्म में प्रविष्ट हो जाने के बाद तो श्रेय का पौधा विकसित होने लगेगा । वह अत्यंत शीतलता देने वाला होगा । उसकी छाँह में शांति की अनुभूति होती है । परन्तु मूल से भटका हुआ व्यक्ति उसी में आनंद मानता हुआ स्वयं को ठगता रहेगा । ठगोरी इन्द्रियों द्वारा ठगाता चला जायेगा । हमारा ठगाव न हो इसलिए इस स्थिति से बाहर निकलें, अवश्य ही कोई न कोई मार्ग मिल जायेगा । परमात्मा का वास हृदय में करा लिया फिर आनंद की सीमा नहीं रहेगी । मानतुंगाचार्य ने कहा है-

दृष्ट्वा भवंत्मानिमेष विलोकनीयम्..

एक बार जिसने परमात्मा की छवि हृदयपटल पर अंकित कर ली फिर उसे अन्यत्रा कहीं संतोष नहीं मिलेगा । वह तो उसी एक छवि से परम संतुष्ट हो जायेगा और इधर-उधर मंडराना छोड़ देगा । इसलिए अंतर की उस छवि को देखो-

छवि अन्दर की जिसने देखी, वह फिर बाहर क्या देखे ?

अक्षय पर आँखें है जिसकी, वह क्षणभंगुर को क्या देखे ?

अंजना ने जब अपने पति को हृदय में बसा लिया तब फिर क्या वह किसी दूसरे को उसमें बैठा पाई ? इसलिये एक परमात्मा की शरण में

जाओ, उसे ही साधो । उसी से सब सध जायेगा । कहा भी गया है-

एक साधे सब सधे, सब साधे जब जाय ।

एक को हृदय में गहरा बिठा लिया फिर किसी और के लिये इधर-उधर झाँकना भी नहीं । जो अपनी स्त्री को छोड़ इधर-उधर झाँके उसे लम्पट कहते हैं । इसी प्रकार यदि हम अपने आत्मधर्म को छोड़ इधर-उधर भटकते हैं तो हम भी लम्पट हुए । अतः हमें यह देखना है कि हम कहीं भटक तो नहीं रहे हैं । पेंडुलम की भाँति कहीं हमारी डांवाडोल स्थिति तो नहीं हो रही है । संत कबीरदासजी ने कहा है-

**चक्की चले तो चलने दे, पिस-पिस आटा होय ।
लगा रहे जो कील से तो बाल न बाँका होय ॥**

एक कील को जिसने पकड़ लिया वह सुरक्षित रहता है, जबकि दो पाटों के बीच आने वाला पिस जाता है । पर जिसने कील को पकड़ लिया उसका कुछ नहीं बिगड़ता । ऐसी ही सुरक्षा आत्मा की कील से लगे रहने वाले को उपलब्ध होती है जो दाने विचलित होते हैं । वे पिस दिये जाते हैं, परन्तु जो विचलित नहीं होते, कीले से चिपके रहते हैं वे बच जाते हैं । विचलित होने वाला ही भटकता है, अपनी स्वय की हानि करता है । हमारे विचारों में उतार-चढ़ाव आते हैं तभी चोट लगती है, निराशा के भाव आते हैं और असंतोष की वृत्ति पनपती है । इसलिये आवश्यक है कि एक ही छवि को हृदय में गहराई से उतार लें । एक पर भरोसा कर लें, एक के बल को अपना बल मान लें, फिर संसार के सभी आकर्षणों-विकर्षणों, उतार-चढ़ावों, निराशाओं और असंतोष के भावों से मुक्ति मिल जायेगी । तुलसी ने ठीक ही लिखा है- एक भरोसे, एक बल, एक आस विश्वास, एक राम घनश्याम हित चातक तुलसीदास । चातक और चकोर से साधक की समानता यों ही नहीं बताई गई है । उसके पीछे गूढ़ अर्थ है । साधक को संकेत दिया गया है कि आत्मभाव में स्थिर हो जायें, आत्मरामी बनें ।

क्रोध, मान, मद, ईर्ष्या, विषयवासना को छोड़ दें, भीड़ को छोड़कर आगे बढ़ जायें तो फिर आनंद में रम जायेगा। इन विभावों की भीड़ को छोड़कर अकेले तो पार पहुँच जाएगा। हम ‘पर’ से अगल हों, हमें जिनेश्वर देवों के शासन में आचार्य भगवन् जैसे गुरु के सानिध्य का अवसर मिला है, इसका उपयोग करें, इनके आश्रय में आत्मरामी बनें और श्रेय मार्ग पर आगे बढ़े।

दि. 19.10.96